निवेदन

प्रिय पाठकवृन्द !

एक ज़माना था, जब ढालों में लिखे गये चरित्रों को श्रद्धा से पढ़ने में जनता की रुचि थी और ऐसे ही समय में समयानुकूल समझ कर बालब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य पू० श्री अमोलक ऋषिजी महाराज ने जिनदास और सुगुणी की आदर्श जीवनी की रचना ढालों के माध्यम से सुमधुर सरल भाषा में प्रकट की थी ! किन्तु आज जमाना बदल गया है ।

आज तो केवल नाटक, प्रहसन और उपन्यासों ने ही जनता की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा है ! उनमें वर्णित ममता-वर्द्धक वर्णनों के द्वारा समाज का झुकाव दिन प्रतिदिन विलास की ओर बढता जा रहा है ! इसकी रोक थाम जरूरी है और इसके लिये जरूरी है—प्राचीन ढालों में वर्णित सच्चरित्रों का गद्यात्मक ढंग से आधुनिक हिन्दी में रूपान्तर ! तथा ऐसे ही रूपान्तरों का अधिक से अधिक संख्या में तेजी से प्रकाशन !!

स्मरण रहे कि हमारी प्रकाशन-संस्था "श्री अमोल जैन ज्ञानालय—धूलिया" का प्रयत्न पिछले कई वर्षों से इसी दिशा में हो रहा है—प्रद्युम्नचरित्र, सोलह सतियों की अलग-अलग जीवनियाँ आदि इसके प्रमाण हैं ! प्रस्तुत ग्रन्थ भी इसी दिशा में अगला कदम है ।

१००)

जैनाचार्य पूज्य श्री की उपर्युक्त श्रेष्ठ कृति को "धर्मवीर जिनदास" के रूप में प्रकाशित करने का उद्देश्य केवल यही है कि उसमें वर्णित उपदेशात्मक सद्विचारों का लाभ उठाने से समाज वञ्चित न रहे। वैसे तो "जिनदास सुगुणी" अलग से भी प्रकाशित हो चुकी है, जिससे कि ढालप्रेमी सज्जन पूज्य श्री की मूलकृति का रसास्वादन कर सकें।

ग्रन्थ की महत्ता का अनुमान तो केवल इसी बात से लग सकता है कि पं० मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म० सा० जैसे सुयोग्य विचक्षण महात्मा की पवित्र प्रेरणा और सूचनाओं के अनुसार पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के द्वारा इस ग्रन्थ के मूलभावों को सुरक्षित रखते हुए हिन्दी गद्य में भाषान्तर करवाया गया है। यदि समाज ने इसे अपनाया तो जल्दी ही कुछ ऐसे ही प्रकाशन और निकाले जाएँगे।

—कन्हैयालाल छाजेड़
सेक्रेटरी:—
श्री अमोल जैन ज्ञानालय
धूलिया (पश्चिम खानदेश)

परिचय और आभार

प्रेमी पाठकवृन्द !

महापुरुषों की जीवनी से ही समय-समय पर हमें सत्प्रेरणा मिलती रहती है, किसी कवि ने कहा है:—

"महाजनो येन गतः स पन्था."

अर्थात् वही मार्ग प्रशस्त माना जाता है, जिस पर महापुरुष चल कर गये हैं। धर्मवीर जिनदास भी एक ऐसे ही महापुरुष हैं, जिनकी आदर्श जीवन-कथा आप इस पुस्तक में पढ़ेंगे; किन्तु इसके पहले उन महानुभावों का परिचय जान लेना जरूरी है, जिनका आर्थिक-सहयोग इस ग्रन्थ के प्रकाशन में प्राप्त हुआ है:—

१ खेडगाँव (पू. खा.) निवासी श्रीमान् स्वरूपचद्रजी संघवी—पशुओं के लिए आपने एक प्याऊ बनवाई है, भूदान में २० एकड़ जमीन दी है, स्थानकभवन के लिए २०००) दिये हैं, इसी से आपकी दानवीरता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस पुस्तक में २५१) दिये हैं।

२ कलमसरा (पू. खा.) निवासी श्रीमान् पन्नालालजी ललवानी की धर्मपत्नी श्रीमती सदाकुंवरबाई—आप एक तपस्विनी सुशीलसम्पन्न महिला हैं! आपने एक बार २०००)

रूपयों की पुस्तकें छपवाकर प्रभावना करवाई थीं, शेंदुर्णी के हाईस्कूल में ५०००) रू. का दान दिया। इस पुस्तक में आपने २५१) दिये हैं।

३ खेडगाँव (पू. खा.) निवासी श्रीमान् भागचंदजी सा. संघवी—आप एक उदार सज्जन हैं, विद्यानुराग तो आपकी नस-नस में भरा है ! तभी तो आपने एक लायब्रेरी खोली, एक स्कूल बनवाया और कई संस्थाओं के आजीवन सदस्य (लाइफ् मेम्बर) हैं। धर्मस्थानक के लिए ५०१) रू. दिये हैं और इस पुस्तक में २५१) दिये हैं।

४ कलमसरा (पू. खा.) निवासी श्रीमान् पन्नालालजी सा. ललवानी के सुपुत्र श्री स्वरूपचन्दजी—आप कभी दान देने में संकोच नहीं करते ! प्रतिवर्ष अनेक शहरों की अनेक संस्थाओं को यथाशक्ति देते रहते हैं। अपनी धर्मपत्नी, सुपुत्र और पुत्रवधू के ८ उपवासों के (थोक) तप की निर्विघ्न-समाप्ति के उपलक्ष में आपने सहर्ष इस पुस्तक में २०१) प्रदान किये हैं।

५ पाचोरा (पू. खा.) निवासी श्रीमान् जोगीदासजी पारख के सुपुत्र श्रीमान् लूणकरणजी सा. पारख—आप बड़े दानवीर सज्जन हैं। धर्म में आपकी विशेष रुचि है, इसीलिए तो स्थानीय "धर्मस्थानक" के भवन के निर्माण के लिए आपने २५१) रू. सहर्ष प्रदान कर दिये। प्रस्तुत पुस्तक में भी आपने विद्या के प्रचार के लिए अपनी उदारता का परिचय देते हुए १२५) दिये हैं।

६ वाघली (पू. खा.) निवासी स्व. श्रीमान रामचंद्रजी सुराणा के सुपुत्र श्री राजमलजी ने अपनी माताजी श्री बायजाबाई की आज्ञा से १५१) रू. दिये हैं। स्व श्रीमान् पन्ना-लालजी वेदमूथा के सुपुत्र श्री वंसीलालजी ने 'रमेश' नामक पुत्र रत्न की प्राप्ति के उपलक्ष में इस ग्रंथ में १०१) । स्व. श्रीमान् धन-राजजी वेदमूथा के सुपुत्र श्री मोहनलालजी ने अपनी माताजी श्री दगड़ीबाई की आज्ञा से १०१ रु. । स्व. श्रीमान् जसराजजी वेदमूथा की धर्मपत्नी सुन्दराबाई ने १०१) । स्व श्रीमान् रूप-चदजी सुराणा की धर्मपत्नी श्रीमती धापाबाई ने ५१) रु. । स्व. श्रीमान् दलीचंदजी के सुपुत्र श्रीमान् निहालचंदजी रॉका ने अपनी माताजी श्रीमती दगड़ीबाई की आज्ञा से ५१) । स्व. श्रीमान् विनयचंदजी पारख की धर्मपत्नी श्रीमती सुपड़ाबाई ने ५) रु. ।—ये सभी सज्जन धर्मात्मा और उदार हैं, शिक्षण से इन्हें विशेष प्रेम है। समय-समय पर आसपास की संस्थाओं को चन्दा देते ही रहते हैं। धर्मकार्यों में यहाँ की श्राविकाओं का उत्साह सदा जागृत रहा करता है। धर्मस्थानक के बिना धर्म करने की भावना जल्दी पैदा नहीं होती—यह बात यहाँ की सब श्राविकाएँ अच्छी तरह जानती हैं, तभी तो स्व. श्रीमान् जसराजजी वेदमूथा की स्व. माताजी श्रीमती राधाबाई ने एक विशाल "धर्मस्थानक" के भवन को बनवाकर स्थानीय श्रीसघ को सौंप दिया जो लगभग सत्रह हजार की लागत से बना है। इसके अतिरिक्त लगभग १०००) रु की लागत से बना एक छोटा भवन भी "धर्मस्थानक" के रूप में श्रीमती धापाबाई ने श्रीसंघ को सौंप रक्खा है। संक्षेप में कहा जाय तो यहाँ श्रावक और श्राविकाओं में होड़ मची रहती है कि कौन किससे धर्म-

कार्य में आगे बढ़ता है। इस प्रकार धाधली से कुल ५६१)

उपर्युक्त सभी उदार हितैषी सज्जनों का मैं अपनी संस्था की तरफ से हार्दिक आभार मानता हूँ और उन से निवेदन करता हूं कि कुछ अनिवार्य कारणों से मैं विस्तृत-परिचय प्रकट न कर सका, इसके लिए मुझे वे क्षमा करें। इति शुभम्।

[सूचनाः—स्मरण रहे कि उपलब्ध आर्थिक सहायता के ऊपर सम्पादन-पारिश्रमिक एवं अतिरिक्त व्ययभार संस्था ने उठाया है।]

कन्हैयालाल छाजेड़
सकेटरीः—श्री अमोल जैन ज्ञानालय
गली नं. २ धूलिया (प. खा.)

|| ॐ अर्हते नमः ||

"श्री अमोल जैन ज्ञानालय" को आर्थिक सहायता करने वाले दानवीर सज्जनों की शुभनामावलि

—: जन्मदाता :—

१	श्रीमान्	राजाबहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी	हैद्राबाद
२	,,	प्रेमराजजी चन्दुलालजी छाजेड़	,,
३	,,	मोतीलालजी गोविंदरामजी श्रीश्रीमाल	धूलिया
४	,,	हीरालालजी लालचदजी धोका	यादगिरी
५	,,	केवलचन्दजी पन्नालालजी बोरा	बैंगलोर

—: स्तम्भ :—

६		श्रीसंघ-बार्शी	बार्शी
७	श्रीयुत्	दलीचन्दजी चुन्नीलालजी बोरा	रायचूर
८	,,	शम्भूमलजी गंगारामजी मूथा	बैंगलोर
९	,,	अगरचन्दजी मानमलजी चौरड़िया	मद्रास
१०	,,	कुदनमलजी लुकड़ की सुपुत्री श्रीमती सायरबाई	बैंगलोर
११	,,	नानचन्दजी भगवानदासजी दुगड़	घोड़नदी
१२	,,	हस्तीमलजी हस्तीमलजी मूथा	रायचूर
१३	,,	तेजराजजी चंदेराजजी रुनवाल	,,

१४	श्रीयुत्	मुकनचन्दजी कुशलराजजी भंडारी	रायचूर
१५	,,	नेमीचन्दजी शिवराजजी गोलेच्छा	वेलूर
१६	,,	पुखराजजी सम्पतराजजी धोका	यादगिरी
१७	,,	इन्दरचन्द्रजी गेलड़ा	मद्रास
१८	,,	विरदीचन्दजी लालचन्दजी मरलेचा	,,
१९	,,	जसराजजी बोहरा की धर्मपत्नी श्री केशर-बाई	सुरापुर
२०	,,	चम्पालालजी लोढ़ा की धर्मपत्नी श्री धीसी-बाई	सिकंदराबाद
२१	,,	चम्पालालजी पगारिया	मद्रास
२२	,,	सज्जनराजजी मूत्था की धर्मपत्नी श्री उमराव-बाई	आलंदूर म०
२३	,,	श्री अमोलक जैन स्था० सहायक समिति	पूना
२४	,,	गिरधारीलालजी बालमुकुनजी लुंकड़	बोरद

—: संरक्षक :—

२५	श्रीयुत्	किसनलालजी बच्छावत मूथा की धर्मपत्नी गिलघीबाई	रायचूर
२६	,,	हंसराजजी मरलेछा की धर्मपत्नी मेहताब-बाई	आलदूर म०
२७	,,	जयवंतराजजी भँवरलालजी चोरड़िया	मद्रास
२८	,,	निहालचन्दजी मगराजजी सोंकला	वेलूर
२९	,,	लाला रामचंद्रजी की पत्नी पार्वतीबाई	हैद्राबाद
३०	,,	पुखराजजी लुंकड़ की पत्नी गजराबाई	बैंगलोर
३१	,,	किसनलालजी फूलचन्दजी लूणिया	,,
३२	,,	मिश्रीलालजी कांबेला की धर्म० मिश्रीबाई	,,

३३ श्रीयुत् उमेदमलजी गोलेच्छा की सुपुत्री मिश्रीबाई हैद्रा०
३४ ,, गाढमलजी प्रेमराजजी बांठिया सिकंद्राबाद
३५ ,, मुल्तानमलजी चन्दनमलजी सांकला ,,
३६ ,, जेठालालजी रामजी की पत्नी स्व० जबलबाई के स्मरणार्थ सिकंदराबाद
३७ ,, गुलाबचन्दजी चौथमलजी बोहरा रायचूर
३८ ,, असराजजी शान्तिलालजी बोहरा ,,
३९ ,, दौलतरामजी अमोलकचन्दजी धोका यादगिरी
४० ,, मांगीचन्दजी भंडारी मद्रास
४१ ,, हीराचन्दजी खिवराजजी चोरड़िया ,,
४२ ,, किसनलालजी रूपचन्दजी लूनिया ,
४३ ,, मांगीलालजी घसीलालजी कोटड़िया ,,
४४ ,, मोहनलालजी प्रकाशमलजी दुग्गड़ ,,
४५ ,, पुखराजजी मीठालालजी पोहरा पेरम्बूर मद्रास
४६ ,, राजमलजी शान्तिलालजी पोखरणा ,, ,,
४७ ,, रुषभचन्द उदयचन्द कोठारी ,, ,,
४८ ,, आर० जेतरामजी कोठारी ,, ,,
४९ ,, जवानमलजी सुराणा की धर्मपत्नी पापाबाई आलदुर मद्रास
५० ,, मिश्रीलालजी राँका की धर्मपत्नी मिश्रीबाई पुदूपेठ मद्रास
५१ ,, माणकचंदजी चतुर की धर्मपत्नी रतनबाई वेलूर
५२ ,, वोरीदासजी पोरवाल की धर्मपत्नी पानीबाई बैंगलोर
५३ ,, एम. कन्हैयालाल एन्ड ब्रदर्स समदड़िया ,,

५४	श्रीयुत्	हीराचंदजी सांखला की धर्मपत्नी भूरीबाई	बेंगलोर
५५	,,	निहालचंदजी घेवरचंदजी भटेवरा	वेलूर
५६	,,	धनेचंदजी विजेराजजी भटेवरा	,,
५७	,,	गुलाबचंदजी केवलचंदजी भटेवरा	,,
५८	,,	गुमदानी बहिन	,,
५९	,,	रामचन्द्रजी बॉठिया की धर्मपत्नी पानीबाई	वेलूर
६०	,,	विजराजजी बाफ़ीवाल की पत्नी मिश्रीबाई	त्रिवेलूर
६१	,,	सम्पतराजजी एण्ड कम्पनी	तिरपातूर
६२	,,	आशकरनजी चौरड़िया की पत्नी केशरबाई	उलन्दूरपेठ
६३	,,	जुगराज खिवराज केवलचंद बरमेचा	श्रीपेरमपुर
६४	,,	नवलमलजी शंभूमलजी चौरड़िया	मद्रास
६५	,,	मिश्रीलालजी पारसमलजी कांकेला	बेंगलोर
६६	,,	केशरमलजी घीसूलालजी कटारिया	,,
६७	,,	मुल्तानमलजी चन्दनमलजी गरिया	,,
६८	,,	चुन्नीलालजी की धर्मपत्नी भूमाबाई	,,
६९	,,	अचलदासजी हंसराजजी कन्हाड़	सिंधनूर
७०	,,	एन् शान्तिलाल बलदोटा	पूना
७१	,,	घोंडीरामजी की धर्मपत्नी रगुबाई	निफाड
७२	,,	जुगराजजी मूथा की पत्नी पताशीबाई	काठवाड़ी
७३	,,	डूंगरमलजी अमराजजी, भीकमचंदजी भँवरलालजी सुराणा	मद्रास
७४	,,	मिश्रीलालजी बोरा की धर्मपत्नी नेनीबाई	बेंगलोर
७५	,,	केवलचंदजी बोरा की धर्मपत्नी पार्वतीबाई	,,
७६	,,	सुवालालजी शंकरलालजी जैन मांबलम्	(मद्रास)
७७	,,	मनोहरमलजी गादिया की पत्नी गंगाबाई	मद्रास

७८ श्रीयुत् अमरचंदजी मरलेचा की धर्मपत्नी पल्लावरम्
७९ ,, गोविंदरामजी मोहूरामजी ट्रस्ट के सेक्रेटरी
श्री दीपचंदजी रूचेती धूलिया
८० ,, स्व० रूपचंदजी भंसाली की पत्नी जतनबाई फत्तेपुर
८१ ,, अनराजजी जवाहरमलजी मंडलेचा के स्मरणार्थ
श्री बंशीलालजी मेघराजजी मंडलेचा फत्तेपुर

|| श्री वीतरागाय नमः ||

बाल ब्रह्मचारी, श्रीमज्जैनाचार्य स्वर्गीय पूज्य

श्री अमोलक ऋषिजी महाराज संबंधी

संक्षिप्त जीवन-परिचय

१ जन्म स्थान-भोपाल (मालवा)

२ माता पिता नाम-सुश्री हुलासाबाई और श्री केवलचंदजी कासटिया, (ओसवाल बड़े साथ) ।

३ जन्मतिथी-संवत् १९३३ भाद्रपद कृष्णा ४ दिन के ६ बजे ।

४ दीक्षा ग्रहण तिथि-संवत् १९४४ फाल्गुन कृष्णा २ गुरुवार स्थान-आष्टा (भोपाल) ।

५ दीक्षा के समय आयु-वर्ष ११, महीना ५ और दिन २७ ।

६ बत्तीस शास्त्र अनुवाद कार्य-संवत् १९७२ के कार्तिक शुक्ला ५ गुरुवार, पुष्य नक्षत्र, स्थान-हैदराबाद । और कार्य समाप्ति-तीन वर्ष और पन्द्रह दिन पाने स १९७५ मगसर वदी ५ ।

७ आचार्यपद महोत्सव तिथि-संवत् १९८९ ज्येष्ठ शुक्ला १२ बुधवार, स्थान इन्दौर, सर सेठ हुकमीचंदजी की नसियां में ।

८ वृहद् साधु सम्मेलन-अजमेर संवत् १९९० चैत्र शुक्ला १० वुधवार को सम्मिलित हुए।

९ विहार क्षेत्र-दक्षिण भारत, हैदराबाद स्टेट, कर्नाटक, बैंगलोर, ैसूर स्टेट, महाराष्ट्र प्रदेश, खानदेश, मध्य प्रदेश, बरार, ववई प्रदेश, गुजरात, कच्छ, काठियावाड़, मालवा, मेवाड़, मारवाड़, गोरवाड़, दिल्ली, पंजाब, शिमला आदि आदि।

० संयम काल पूर्ण वैराग्यमय, कर्मण्यतामय, और साहित्य-सेवा करते हुए सानंद व्यतीत किया। आपश्री बाल ब्रह्म-चारी थे, सभी सप्रदाय के संत समुदाय और श्रावक वर्ग पूज्य श्री जी के प्रति समान भाव से प्रेम, सहानुभूति, भक्ति और आदर रखते थे। आप शांत दांत और क्षमाशील थे। अपने युग में आपश्री एक आदर्श-साधु के रूप में विख्यात तथा सम्मानित थे।

११ साहित्य सेवा-आपश्री द्वारा अनुवादित, संपादित, लिखित और संग्रहीत एवं रचित ग्रथों की सख्या १०२ है जिनकी कुल प्रतियाँ १७६३२५ प्रकाशित हुई। कुल ग्रंथों की मूल प्रेस कॉपी के पृष्ठो की संख्या पचास हजार जितनी है।

१२ दीक्षित शिष्य-आप द्वारा दीक्षित संतों की याने खुदके शिष्यों की सख्या १४ है।

१३ सयम काल-पूज्य श्री जी ने ४८ वर्ष ६ महीना और १२ दिन तक साधु-जीवन की याने सयमकाल की परिपालना की।

१४ पुण्य तिथि-संवत् १९९३ के दूसरे भाद्रपद कृष्णा १४ तदनुसार तारीख १३ ९-१९३६ की रात्रि के ११॥ बजे धूलिया (पश्चिम खानदेश) में समाधि पूर्वक पूर्ण शांति के साथ स्वर्ग वास किया। इस समय पूज्य श्री जी की आयु ६० वर्ष और ९ दिन की थी।

नोट.—चरित्र-नायक पूज्यश्री जी के पिताश्रीजी केवलचन्दजी ने भी दीक्षा ग्रहण की थी, और वे "तपस्वी श्री केवल ऋषिजी" के नाम से जैन समाज में विख्यात और पूजनीय हुए।

विषयानुक्रमणिका

धर्मवीर जिनदास

विषय-प्रवेश

न सा दीक्षा न सा भिक्षा, न तद् दानं न तत्तपः।
न तद् ध्यानं न तन्मौनं, दया यत्र न विद्यते॥

वह दीक्षा दीक्षा नहीं, वह भिक्षा भिक्षा नहीं, वह दान दान नहीं, वह तप तप नहीं, वह ध्यान ध्यान नहीं, और वह मौन मौन नहीं, जिसमे दया का समावेश न हो। तात्पर्य यह है कि यदि हृदय में दया का वास नहीं है तो शास्त्रविहित उच्च से उच्च कोटि का अनुष्ठान भी निरर्थक है।

'दया धर्म का मूल है' यह उक्ति लोक में प्रसिद्ध है। यह उक्ति भारतवर्ष की प्राचीन एवं प्रशस्त विचारधारा का प्रतीक

है। इस उक्ति में दया की महत्ता का संक्षेप में, किन्तु महत्त्वपूर्ण शब्दों में, दिग्दर्शन कराया गया है। सभी जानते हैं कि मूल (जड़) के बिना वृक्ष क्षण भर भी खड़ा नहीं रह सकता। मूल कट जाने पर शीघ्र ही वृक्ष निष्प्राण हो जाता है। इसी प्रकार समस्त धर्माचरण का मूल दया है। जिस अन्तःकरण रूपी भूमि में दया न होगी या जिसमें से दया निकल जायगी, उसमें धर्म रूपी कल्पतरु ठहर नहीं सकेगा। वह निष्प्राण हो जायगा।

आकाश की उच्चता की प्रतिस्पर्द्धा करने वाला, मनोहर, भव्य और विशाल भवन जैसे नींव के सहारे टिका होता है, उसी प्रकार धर्म का प्रधान आधार दया है।

जैसे अङ्क के अभाव में स्थापित की हुई शून्यों की विशाल राशि का भी कोई मूल्य नहीं है; वह निरर्थक है; उसी प्रकार दया के अभाव में की जाने वाली समस्त धर्मक्रियाएँ आत्महित की दृष्टि से निरर्थक हैं। उनकी कोई कीमत नहीं है। कहा भी है:—

दया विना देवगुरुक्रमार्चा—
स्तपांसि सर्वेन्द्रिययन्त्रणानि ।
दानानि शास्त्राध्ययनानि सर्वं,
सैन्यं गतस्वामि यथा तथैव ॥

अर्थात्—दया के बिना देवपूजा, गुरु के चरणों की पूजा, विविध प्रकार के तप, पाँचों इन्द्रियों का दमन, दान, शास्त्रों का स्वाध्याय आदि-आदि सभी क्रियाएँ वैसी ही हैं जैसे बिना

सेनापति की सेना। सेनापति के अभाव में विपुलसंख्यक सेना भी तहस-नहस हो जाती है और अपने शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं होती। इसी प्रकार दया के अभाव में सब धर्म-क्रियाएँ मिल कर भी आध्यात्मिक शत्रुओं को जीतने में कार्य-कारी नहीं होतीं। दया का माहात्म्य वाणी के अगोचर है। दया की दया से इहलोक भी सुखमय बन जाता है और परलोक भी सुधर जाता है। दया के प्रभाव से सभी अनिष्ट दूर हो जाते हैं, सब संकट कट जाते हैं और सभी अभीष्टों की सिद्धि होती है। यथार्थ ही कहा है:—

आयुर्दीर्घतरं वपुर्वरतरं गोत्रं गरीयस्तरम्,
वित्तं भूरितरं बलं बहुतरं स्वामित्वमुच्चैस्तरम्।
आरोग्यं विगतान्तरं त्रिजगति श्लाघ्यत्वमल्पेतरम्
संसाराम्बुनिधिं करोति सुतरं चेतः कृपार्द्रान्तरम्॥

अर्थात्—जिसका चित्त दया से आर्द्र होता है, उसे खूब लम्बी आयु प्राप्त होती है, अतिशय सुभग शरीर प्राप्त होता है, उच्चतर गोत्र की प्राप्ति होती है, विपुलतर वैभव उसके चरणों में लोटता है, वह अत्यन्त प्रबल बल प्राप्त करता है, उच्चश्रेणी की प्रभुता पाता है, निरन्तर रहने वाली नीरोगता प्राप्त करता है, तीनों लोकों में महान् प्रशंसा पाता है और संसार-सागर को सरलता से पार करने योग्य अपने आपको बना लेता है।

दया की यह महिमा है! दया-देवी के प्रसाद से मनुष्य का इह-परलोक तो महत्त्वपूर्ण बनता ही है; साथ ही मुक्ति भी

प्राप्त होती है ! इस प्रकार संसार में कोई भी ऐसी अभीष्ट वस्तु नहीं जो दया से प्राप्त न हो सके। कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न भी जो कुछ देने में असमर्थ हैं, वह भी दया से अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

दया ही देवों और दानवों में भेद करती है। जिसके दिल में दया नहीं वह दानव है और जिसके हृदय में दया का शुचितर प्रवाह वहता रहता है वह देव है। दया अन्तःकरण की वक्रता को नष्ट करके सरलता उत्पन्न करती है। क्रूरता का अन्त करके कोमलता को जन्म देती है। दया चित्त में भाँति-भाँति के सद्गुण रूपी सौरभपरिपूर्ण सुमनों का विकास करती है। मनुष्य के जीवन को पवित्र और प्रशस्त बनाने वाली है। नृशंस से नृशंस और भयंकर से भयकर प्राणी भी दया के प्रताप से मैत्री और करुणा का सागर बन जाता है।

प्रतिदिन छह पुरुषों और एक नारी की हत्या करने वाला निर्दय अर्जुन माली कैसे परम-दयालु बन गया ? किसके प्रभाव से वह विश्व-मैत्री का परमाराधक बन कर परमात्म-पद को प्राप्त कर सका ? यह दया का ही परम प्रताप था। दया-देवी की उपासना करके वह दानव से महादेव बना। दूसरों को सताने वाला इतना सहनशील बन गया कि दूसरों द्वारा सताये जाने पर भी वह समताभाव में ही स्थित रहा !

तो जो दया-देवी अर्जुन माली जैसे पतितात्मा को भी परमात्मा की पंक्ति में पहुँचा देती है, उसका माहात्म्य वर्णन करने की शक्ति किस में है ?

प्रश्न किया जा सकता है कि जिस दया का इतना अधिक माहात्म्य है और जिसमें इतना अधिक प्रभाव है, उसका स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है:—

परस्मिन् बन्धुवर्गे वा, मित्रे द्वेष्ये रिपौ तथा।
आत्मवद्वर्त्तितव्यं हि, दयैषा परिकीर्त्तिता॥

अर्थात्—हम अपने बन्धु-बान्धव आदि स्वजनों के प्रति जैसा व्यवहार करना चाहते हैं, वैसा ही व्यवहार पराये समझे जाने वालों पर भी करें, जैसा मित्रों के साथ वर्त्ताव करते हैं, वैसा ही शत्रुओं पर भी करें; अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति समता की भावना रखना और समान भावना से वर्त्ताव करना ही दया है।

यहाँ दया का सामान्य लक्षण दिखलाया गया है। इस लक्षण में दया के सभी विशेष लक्षणों का समावेश हो जाता है। जैसे हम आत्मीय जनों को संकट में पड़ा देखकर उनके संकट को अपना ही संकट समझते हैं और उसे निवारण करने को उद्यत होते हैं, उसी प्रकार किसी भी अपरिचित, यहाँ तक कि अपने शत्रु के संकट को भी दूर करने के लिए उद्यत हो जाएँ तो समझना चाहिए कि हमारे दिल में दया का वास है। सच्चा दयावान् पुरुष स्वयं तो किसी पर सकट लादेगा ही नहीं, दूसरे कारणों से आये हुए संकटों को देख कर भी चुपचाप नहीं बैठा रहेगा। वह दूसरे के संकट को अपना ही संकट समझेगा। जैसे अपने ऊपर कष्ट आने पर मनुष्य व्याकुल हो जाता है और

उनकी उपेक्षा नहीं करता, इसी प्रकार दयालु पुरुष परकीय कष्ट को देखकर भी व्याकुल हो जाता है और उसे दूर करने के लिए सचेष्ट होता है। इस प्रकार की वृत्ति जब सहज बन जाय तो समझना चाहिए कि हमारा अन्तस्तल दया के अमृत से परिपूर्ण हो गया है। यह सब दयालुता के लक्षण हैं।

मगर दयालुता की सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। दयावान् का हृदय इतना कोमल और विमल हो जाता है कि वह स्वयं महान् से महान् दुःख झेल कर भी दूसरों को दुःख से मुक्त करने का प्रयत्न करता है। यह कोटि दया की उच्च कोटि है। हमारे शास्त्रों में इस उच्च कोटि की दया के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। राजा मेघरथ ने कबूतर के प्राणों की रक्षा के लिए अपना शरीर काट काट कर दे दिया, अन्त में सारा शरीर ही समर्पित कर दिया था।

धर्मरुचि अनगार को हम कैसे विस्मृत कर सकते हैं, जिन्होंने चिउंटियों की प्राण रक्षा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करके परमदया का स्पृहणीय आदर्श हमारे सामने खड़ा किया है?

और वह मेतार्य महामुनि? वह जन्म से अन्त्यज होकर भी कर्म से महान् आर्य थे। उन्होंने भी एक मुर्गे की रक्षा के लिए घोर-अतिघोर व्यथा सहन की। अन्त में प्राणों का उत्सर्ग कर दिया।

शास्त्रों में दया के ऐसे अनेक उत्कृष्ट उदाहरण भरे पड़े

है। यह उदाहरण हमारे लिए बहुमूल्य विरासत है और आर्य-जाति के लिए पवित्र प्रेरणा प्रदान करने वाले महामंत्र हैं।

आशय यह है कि मनुष्य की अन्तरात्मा जब दया की दिव्य ज्योति से देदीप्यमान होती है, तब उसमें से अविवेक, अज्ञान, भ्रम और मूढ़ता आदि का अंधकार दूर हो जाता है। वह 'सव्वभूयप्पभूअ' अर्थात् समस्त आत्माओं को अपनी ही आत्मा के समान समझने लगता है। जब यह सर्वभूतात्मभूत-वृत्ति मनुष्य में आती है, तभी उसमें अहिंसा का आविर्भाव होता है।

अहिंसा का भाव इतना व्यापक है कि उसमें सभी कर्त्तव्यों का समावेश हो जाता है। कहा भी है—

अहिंसा परमं दानमहिंसा परमो दमः।
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं पदम् ॥
अहिंसा परमं ध्यानमहिंसा परमं तपः।
अहिंसा परमं ज्ञानमहिंसा परमं पदम् ॥

अर्थात्—दान, इन्द्रियदमन, यज्ञ, ध्यान, तप, ज्ञान, और धर्म आदि सब अहिंसा-स्वरूप ही हैं। प्रत्येक धर्म क्रिया का प्राण अहिंसा है। जैसे प्राणहीन शरीर निकम्मा है, उसी प्रकार अहिंसाहीन धर्मानुष्ठान व्यर्थ है। अहिंसा का अर्थ कितना व्यापक है, यह जानने के लिए प्रश्न व्याकरण सूत्र का प्रथम संवरद्वार पठनीय है। वहाँ अहिंसा का व्यापक स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए सूत्रकार ने उसके लिए साठ पर्यायवाची शब्दों

का प्रयोग किया है। उत्तम शब्दों में वहाँ अहिंसा की प्रशस्ति की गई है। बतलाया गया है कि क्या देवों और क्या मनुष्यों के लिए अहिंसा ही शरणभूत, त्राणभूत और आधारभूत है।

प्रश्नव्याकरण में अहिंसा के लिए कुछ उपमाओं का प्रयोग करते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

"एसा सा भगवती अहिंसा, जा सा भीयाण विव सरणं, पक्खीणं पिव गगणं, तिसियाण पिव सलिलं, खुहियाणं पिव असणं, समुद्दमज्झेव पोतवहणं, चउप्पयाणं च आसमपयं, दुहट्ठियाणं च ओसहिबलं, अडवीमज्झे विसत्थगमणं; एत्तो विसिट्ठतरिका अहिंसा, जा सा पुढवि-जल-अगणि-मारुय--वणस्सइ-बीय-हरित--जलचर-थलचर-खहचर-तस-थावर-सव्वभूय खेमकरी।"

अर्थात्—यह अहिंसा भगवती है। यह भयभीतों को रक्षकों के समान रक्षा करने वाली, पक्षियों के लिए आकाश के समान, प्यासों को पानी के समान, भूखों को भोजन के समान, समुद्र के मध्य में जहाज के समान, चौपायों के लिए आश्रम-स्थान के समान, रोगियों को औषध के समान और अटवी में भूले हुए को साथ मिल जाने के समान है। यह अहिंसा इन सब से बढ़कर है। यह पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, बीजकाय, हरितकाय, जलचर, स्थलचर, खेचर, त्रस, स्थावर—समस्त जीवों का क्षेम करने वाली है।

उपर्युक्त पाठ में जो भाव दर्शाये गये हैं, वे एकदम स्पष्ट हैं। वास्तव में, इस संसार में, अहिंसा के अतिरिक्त और कोई

शरण नहीं है। अहिंसा की बदौलत संसार में सुख-शान्ति दृष्टिगोचर होती है। यदि इस धराधाम के समस्त प्राणी हिंसक बन जाएँ तो संसार नरक से भी गया-बीता हो जाय। हमारा जीवन और हमारा अस्तित्व अहिंसा की ही कृपा का फल है।

अहिंसा का इतना महत्त्व होने पर भी कुछ लोग अहिंसा की व्यवहार्यता में सन्देह किया करते हैं। वे कहते हैं—कहने को तो अहिंसा बहुत अच्छी है, परन्तु वह आचरण में नहीं आ सकती। जीवन में पद-पद पर हिंसा करनी पड़ती है। अतएव अहिंसा का आचरण करना शक्य नहीं है।

ऐसे लोगों के भ्रम को दूर करने के लिए 'धर्मवीर जिन दास' चरित की रचना की गई है। इस चरित में एक अहिंसा-परायण दम्पति की कथा अंकित की गई है। इसे आद्योपान्त्य पढ़ने से पाठक समझ जावँगे कि गृहत्यागी साधुओं की तो बात ही दूर, गृहस्थ भी यदि अपने व्यवहार में सावधान और सतर्क रहे तथा शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करे तो उसके लिए भी अहिंसा का आचरण अशक्य नहीं है।

इस कथा से पाठक यह भी समझ सकेंगे कि सच्चे दया-वान् एवं अहिंसक कठिन से कठिन अवसर पर भी किस प्रकार अहिंसा का पावन पल्ला पकड़े रहते हैं ? और अन्त में उन्हें किस प्रकार सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है ?

गार्हस्थ्य दृष्टि से भी यह कथा अत्यन्त उपयोगी है। परिवार जब फूट, ईर्षा और द्वेष का अखाड़ा बन जाय तो

अहिंसक को किस प्रकार इन दुष्प्रवृत्तियों का सामना करके प्रतिरोध करना चाहिए ? किस प्रकार अपने उजड़े कुटुम्ब को फिर आबाद करना चाहिए ? इन सब प्रश्नों का उत्तर पाठक इस कथा में पाएँगे।

गृहिणियों के लिए इस कथा का बड़ा महत्त्व है। किस प्रकार गृहस्थी के कार्यों में यतना करके पापों से बचाव किया जा सकता है ? धर्मनिष्ठ नर-नारियों का भोजन-पान, चौका-चूल्हा आदि किस प्रकार का होना चाहिए ? इन सब बातों पर इसमें अच्छा प्रकाश डाला गया है। सारांश यह है कि इसमें दया के सभी अंगों का स्पष्टीकरण किया गया है और आदर्श गृहस्थ का नमूना उपस्थित किया गया है।
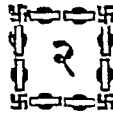
कथारम्भ
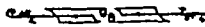
सभी ओर अनन्त-अनन्त अलोकाकाश के मध्य में चौदह राजू लम्बा एक आकाशखण्ड है, जो लोकाकाश कहलाता है। इस आकाशखण्ड को लोकाकाश इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें आकाश के अतिरिक्त जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल आदि द्रव्यों की सत्ता है। अलोकाकाश कोरा – इतर द्रव्यों से शून्य आकाश है।

लोकाकाश का स्वरूप विशेष रूप से समझने में सुविधा हो, इस आशय से लोक के तीन भाग कर दिये हैं—(१) ऊर्ध्वलोक अर्थात् ऊपर का लोक, (२) मध्यलोक अर्थात् बीच का लोक (३) अधोलोक अर्थात् नीचे का लोक।

इस धरातल से नौ सौ योजन नीचे तक और नौ सौ योजन ऊपर तक का आकाश मध्यलोक कहलाता है। इससे ऊपर ऊर्ध्वलोक और नीचे अधोलोक है। हमारी कथा का सम्बन्ध मध्यलोक से है।

मध्यलोक में एक दूसरे को घेरे हुए, आगे-आगे दुगुने-दुगुने विस्तार वाले गोलाकार असंख्य द्वीप और समुद्र हैं। उन सब के बीच में, सब से कम विस्तार वाला अर्थात् एक लाख योजन विस्तृत जम्बूद्वीप है।

आगे के द्वीपों और समुद्रों की गोलाई चूड़ी के समान है, परन्तु जम्बूद्वीप की गोलाई थाली या झालर के समान है। इसके बीच-बीच में, पूर्व से पश्चिम दिशा में छह बड़े-बड़े पर्वत हैं, जिनके कारण यह द्वीप सात खंडों में विभक्त हो गया है। यही खण्ड सात वर्ष या क्षेत्र कहलाते हैं। इस द्वीप के ठीक मध्य में सुमेरु पर्वत है। इसी पर्वत से दिशाओं का क्रम चालू होता है।

तो सुमेरु से दक्षिण दिशा की ओर भरतक्षेत्र है। यह तीन तरफ लवण समुद्र से घिरा है और एक तरफ हिमवान् पर्वत से। हमारी प्रस्तुत कथा का संबंध इसी भरतक्षेत्र के साथ है।

भरतक्षेत्र के बत्तीस हजार देशों में मगध देश अत्यन्त सुहावना है। अनेक दृष्टियों से उसका महत्त्व है। यह वही मगध देश है, जिसमें भगवान् महावीर चरम तीर्थंकर ने जन्म धारण किया था। मगध ! हाँ, वही मगध, जहाँ से चरम तीर्थंकर की देशना देश-देशान्तर में प्रसृत हुई, जहाँ जैनशासन के स्तंभ स्वरूप अनेक सम्राटों ने अपना-सूर्य चमकाया और इस कारण जो भारतवर्ष के इतिहास में अपना अद्वितीय स्थान रखता है।

मगध देश में जिस समय का यह वृत्तान्त अंकित किया जा रहा है, उस समय महेन्द्रपुर नामक एक सुन्दर नगर था। यह नगर ऋद्धि-सिद्धि से सम्पन्न था। इसमें अनेक धनाढ्य श्रेष्ठीगण निवास करते थे। नगर चहुँ ओर शहरपनाह से सुशोभित था। शहरपनाह में चारों दिशाओं में चार विशाल और सुदृढ़ गोपुर थे। नगर के बीच अनेक राजमार्ग थे। स्वचक्र का अथवा परचक्र का वहाँ किसी प्रकार का भय नहीं था। अर्थात् वहाँ की प्रजा को न अपने राजा का भय था, न शत्रु राजाओं का भय था।

महेन्द्रपुर की नैसर्गिक श्री बड़ी ही मनोरम थी। जगह-जगह पुष्पों, पत्रों और फलों से विराजमान तरुओं वाले अनेक उद्यान थे। सागर की प्रतिस्पर्द्धा करने वाले अनेक सरोवर थे। सरोवरों का मधुर और निर्मल जल नगरनिवासियों के हृदय की मधुरता और विमलता का प्रतीक था। सरोवरों और उद्यानों के कारण सन्ध्या के समय दूर-दूर से पक्षीगण वहाँ आते थे, बसेरा लेते थे और अपने मिसरी-सने कल-कलनाद से जनता का मनोरंजन करते थे। इस प्रकार महेन्द्रपुर नगर सब प्रकार की शोभा से सम्पन्न था और ऐसा जान पड़ता था, मानो स्वर्ग का एक भाग इस लोक में आकर बस गया है।

महेन्द्रपुर के राजा का नाम अरिंजय था। वह धर्म-कर्म में निपुण था। न्यायनीति का ज्ञाता और पालनहार भी था। दूध का दूध और पानी का पानी कर देता था। प्रचण्ड पराक्रम का धनी, अनुपम तेजोराशि से देदीप्यमान और प्रजा का सन्तान के समान पालन-रक्षण करने वाला था।

राजा अरिजय की पटरानी का नाम रूपश्री था। वह देवी यथा नाम तथा गुण वाली थी। रूप-श्री का भाण्डार थी। शीलवती, गुणवती, और दयावती थी। दान देने में उदार, महिलोचित लज्जा गुण से विभूषित और पतिव्रता थी। उसके अन्तःकरण का सौन्दर्य, शरीर के सौन्दर्य से भी बढ़ कर था और शरीर का सौन्दर्य देवांगनाओं को भी लज्जित करने वाला था। राजा अरिजय को पुण्य के योग से ही रूपश्री जैसे रमणी-रत्न की प्राप्ति हुई थी। नीतिकार कहते हैं:—

अनुकूलां विमलाङ्गीं, कुलजां कुशलां सुशीलसम्पन्नाम् ।
एतादृशीं सुभार्यां, पुरुषः पुण्योदयाल्लभते ॥

अर्थात्—पुण्य का उदय होने पर पुरुष को सुपत्नी की प्राप्ति होती है। और सुपत्नी वही है जो अपने पति के अनुकूल होकर वर्त्ताव करे, निर्दोष अंगों वाली हो, अच्छे सुसंस्कारी कुल में जन्मी हो, गृहकार्य आदि में कुशल हो और सुशीलवती हो।

अरिजय रूपश्री को पाकर प्रसन्न थे और रूपश्री न्यायनीति निष्ठ और धर्म प्रिय पति को पाकर सन्तुष्ट थी।
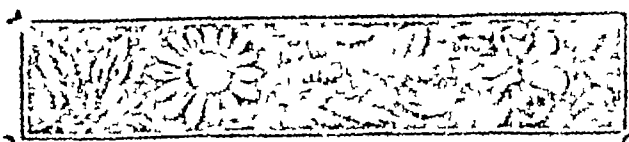
सब दिन रहत न एक समान

महेन्द्रपुर नगर में सभी वर्णों और सभी जातियों की जनता निवास करती थी। उसमें बहुत से पुण्यशाली, दानी, गुणी, दयावान् और विद्वान् जनों का आवास था। नगर के बाजारों में ऐसी चहल पहल रहती थी कि अकस्मात् पहुँच जाने वाला व्यक्ति भी अनायास ही वहाँ के व्यापारियों की समृद्धता का अनुमान लगा सकता था। वहाँ के बाजार अतीव सुन्दर बने थे। भवनों का तो कहना ही क्या है! विशाल एवं व्योमस्पर्द्धिनी अट्टालिकाएं चित्त को बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेती थीं।

इसी महेन्द्रपुर में सोहन साहू नामक एक सेठ भी थे। उनके पास प्रचुर धन-सम्पत्ति थी। वह गुणी आदमी भी थे। दाता भी थे और भोक्ता भी थे। किन्तु उनमें सब से बड़ी जो त्रुटि थी, वह यही कि वह धर्म से अनभिज्ञ थे।

धर्म आगामी भव में सुखदायी तो है ही, किन्तु वर्त्तमान जीवन को भी वह आनन्दमय, सुखमय, सन्तोषमय और शान्ति-

मय बना देता है। धर्मतत्त्व का ज्ञाता पुरुष विवेकशील हो जाता है। वह समझ लेता है कि जीवन में किस पदार्थ को कितना महत्त्व देना चाहिए? धन गृहस्थजीवन की अनिवार्य आवश्यक वस्तु है। उसके अभाव में गृहस्थजीवन अत्यन्त दुःखमय बन जाता है। यही नहीं, यदि जीवननिर्वाह के लिए पर्याप्त धन न हो तो गृहस्थ सर्वत्र अनादर का पात्र बनता है। समाज में प्रायः उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती। उसका विकास भी रुक जाता है।

अनेक गृहस्थ विद्वान् ऐसे देखे गये हैं कि प्रारंभिक अवस्था में उनकी प्रतिभा का विकास तीव्र वेग के साथ हुआ, परन्तु जब उन पर परिवार का पूरा भार आकर पड़ा और उस भार को उठाने के लिए उनके पास पर्याप्त धन न हुआ तो उनकी योग्यता का विकास कुंठित हो गया। उनकी प्रतिभा मलिन हो गई।

तो गृहस्थजीवन में धन का महत्त्वपूर्ण स्थान होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मानव-जीवन का सर्वोत्तम साध्य धन ही है। अगर कोई व्यक्ति धन को ही अपने जीवन का एक मात्र आराध्य समझ लेता है और धन के लिए झूठ, कपट, अन्याय, अनीति, बेईमानी करने में संकोच नहीं करता तो उसका धन भी वृथा है। इस प्रकार धनवान् बनने और धन के भण्डार भर लेने की अपेक्षा न्यायनीति और सन्तोष के साथ निर्धनतापूर्ण जीवन व्यतीत करना तो कहीं अच्छा है। तात्पर्य यह है कि जीवन में धन का स्थान तो है, किन्तु उसकी भी एक मर्यादा है यह बात धर्म सिखलाता है। धर्मज्ञ पुरुष
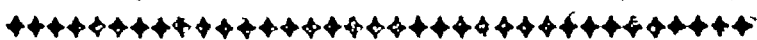
धर्म, अर्थ और भोग को यथोचित स्थान प्रदान करता है; जिससे कोई किसी का बाधक न बन सके। कहा भी है:—

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गो ह्यनुक्रमात्॥

यदि धर्म, अर्थ और काम (भोग) पुरुषार्थ का आपस में विरोध न करते हुए सेवन किया जाय तो निर्बाध आनन्द की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष भी प्राप्त किया जा सकता है।

तीन पुरुषार्थों का परस्पर अविरोध से किस प्रकार सेवन किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि धनोपार्जन करते समय और भोग भोगते समय ध्यान रक्खा जाय कि कहीं धर्म में व्याघात न हो जाय? धन के लिए धर्म को न गँवा दे और कामभोगों में आसक्त होकर धर्म का उल्लंघन न करे। अर्थात् गृहस्थधर्म की मर्यादाओं को ध्यान में रख कर तथा उनका पूर्ण रूप से पालन करते हुए ही गृहस्थ अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करने का अधिकारी हो सकता है। इसी प्रकार गृहस्थी के उत्तरदायित्व को अपने कंधों पर रखते हुए, धर्म की आराधना भी इस तरह न करे कि उक्त दोनों पुरुषार्थों में बाधा पड़े। हाँ, जब धर्म की विशिष्ट आराधना करनी हो तो उस उत्तरदायित्व का परित्याग कर दे और अनगार बन जाय। धन के अनुरूप भोग भोगना और भोगों के अनुरूप धनोपार्जन करना भी गृहस्थजीवन की सफलता के लिए आवश्यक होता है। जो गृहस्थ अपने सुख के लिए पानी की तरह पैसा व्यय

करता है, किन्तु जितना व्यय करता है, उतना उपार्जन नहीं करता, वह किसी न किसी दिन घोर संकट में पड़े बिना नहीं रहता। इसके विपरीत, जो धनोपार्जन में निरन्तर लगा रहता है किन्तु उसका उपभोग किञ्चित् भी नहीं करता; उसका धनोपार्जन निरर्थक ही हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि गृहस्थ धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों में से एक के द्वारा दूसरे को बाधित न होने दे। इसी में गृहस्थजीवन की सफलता है।

उपर्युक्त विवेक धर्म के तत्त्व को समझने से ही आता है। जो धर्म के रहस्य को नहीं समझता, वह अपने गृहस्थ-जीवन को भलीभाँति सफलता के साथ व्यतीत नहीं कर सकता।

सोहन साहू, जिनका अभी उल्लेख किया गया है, धर्म के तत्त्व को नहीं जानते थे। इस कारण वह धर्म की परछाई से भी दूर रहते थे और रात-दिन धनोपार्जन में ही मगन रहते थे।

सोहन साहू की पत्नी भाग्यवती थी, शीलवती थी और सुन्दरी भी थी। उसे संसार के सुखों की सभी सामग्री प्राप्त थी। किसी बात की कमी न थी। कमी थी तो यही कि उसकी गोद सूनी थी। स्त्री के सब सुख एक तरफ और सन्तान का सुख दूसरी तरफ करके तोला जाय तो संतान-सुख का पलड़ा ही भारी रहेगा। सन्तान के अभाव में नारी अपने सब सुखों को तुच्छ समझती है। वह अपने जीवन को निष्फल और भार रूप अनुभव करती है।

नारी की इतनी प्रबल सन्तति-लालसा का रहस्य क्या है ? कहना कठिन है। फिर भी यह तो सत्य ही है कि सन्तान के अभाव में तीन लोक का राज्य भी उसे सुख की अनुभूति नहीं करा सकता। सोहन साहू की पत्नी इसका अपवाद नहीं थी। वह भी सन्तान के लिए बड़ी लालायित थी और सोचती थी कि न जाने कब वह दिन आएगा जब मेरी सूनी गोद भर जाएगी।

आखिर एक दिन दैवयोग से उसकी कामना सफल हुई। वह गर्भवती हो गई। पति-पत्नी के हर्ष का पार न रहा। उन्होंने अपने वैभव के अनुरूप 'अगरणी' का उत्सव मनाया। अपने बन्धु-बान्धवों को आमन्त्रित किया और सब का भोजन आदि से यथोचित सत्कार किया।

संसारी जीव धन और सन्तान में सुख की कल्पना करते है, परन्तु बहुत कम लोग जानते हैं कि सुख का असली हेतु क्या है ? ज्ञानी जनों का कथन है कि सुख का मूल पुण्य है अगर पुण्य का योग है तो धन सुखप्रद हो सकता है और सन्तान भी आनन्ददायक हो सकती है; अगर पुण्य का उदय न हुआ तो यही वस्तुएँ उलटे दुःख का निमित्त बन जाती हैं।

सोहन सेठ की पत्नी के उदर में जो जीव आया था, वह पुण्य की पूंजी लेकर नहीं, पाप का पुंज लेकर आया था। उसके पाप का प्रभाव तत्काल दृष्टिगोचर होने लगा। व्यापार के निमित्त समुद्र में गया हुआ उनका एक जहाज़ डूब गया। उसमें एक करोड़ का माल लदा था !

सेठ को जहाज़ के डूबने का समाचार मिला। बड़ी जबर्दस्त आर्थिक हानि थी। परन्तु इस समय सेठ पुत्र-प्राप्ति के आनन्द में मग्न थे। अतएव वह हानि भी उन्हें दुखी न कर सकी। सेठ ने सोचा—करोड़ का माल चला गया तो चला गया! मेरे पास बहुत सम्पत्ति है। मेरे यहाँ पुत्र का जन्म होगा तो यह बहुत बड़ा लाभ हो जायगा। बेटा बड़ा होगा, कमाएगा और उस समय सब कसर पूरी हो जायगी!

मगर आर्थिक हानि का जो सिलसिला चालू हुआ तो वह रुका नहीं। चलता ही रहा। सेठ ने जब जो व्यापार किया, उसमें हानि ही हुई। एक ओर गर्भ बढ़ रहा था और दूसरी ओर आर्थिक हानि बढ़ रही थी। फिर भी सेठ ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। पुत्र की लालसा की पूर्ति के आगे आर्थिक क्षति उसके लिए किसी गिनती में नहीं थी।

धीरे-धीरे गर्भ का काल पूरा हुआ। नौ महीने बीत गये। तब एक दिन पुत्र का जन्म हो गया। जिस दम्पती को पुत्र-प्राप्ति की प्रबलतर लालसा हो, उसे पुत्र प्राप्त होने पर कितनी प्रसन्नता होती है, यह तो वही जान सकते हैं, जिन्हें अपने जीवन में ऐसा प्रसङ्ग आया हो।

सोहन साह की प्रसन्नता की सीमा न थी। वह हर्ष की हिलोरों पर नाचने लगे। मारे खुशी के ज़मीन पर उनके पाँव नहीं पड़ते थे। उन्होंने दिल खोल कर गरीबों को दान दिया। मङ्गल-बाजे बजवाए। खूब ठाट के साथ पुत्रजन्म का उत्सव

मनाया गया। ज्ञातिजनों को न्यौता भेजा और प्रेम से भोज दिया। सेठ के यहाँ यह पहली ही सन्तान थी और वह संतान भी पुत्र के रूप में थी। अतएव सब लोगों ने सेठ को बधाइयाँ दी और नवजात शिशु को आशीष दिये। शिशु बहुत 'आवड' से उत्पन्न हुआ था; अतएव सब के सामने उसका नाम रक्खा गया—'आवडकुमार।' नामकरण संस्कार के अनन्तर सब लोग यथास्थान चले गये। सोहन साह्व न मालूम कितने मंसूवे बाँधने लगे।

आवडकुमार दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। सेठानी और सेठ उसे देख कर अपने जीवन को कृतार्थ समझने लगे।

कुछ काल के पश्चात् सेठानी फिर गर्भवती हुई। सेठ को प्रसन्नता का एक नया आधार मिल गया। मगर गर्भ में आया हुआ नया-जीव भी आवडकुमार का ही भाई था—दुनियादारी के व्यवहार से ही नहीं, कर्मों के लिहाज़ से भी। जब से यह नया महापुरुष गर्भ में आया, सेठ को बड़ी आर्थिक क्षति होने लगी। सेठ की हालत दिन व दिन बिगड़ती ही चली गई। जब सेठ बिगड़ने लगता है तो प्राय: स्वार्थी गुमाश्तों की तकदीर चमकती है। वे अवसर देख कर खूब हाथ साफ करते हैं। सोहन साह्व के गुमाश्ते प्रामाणिक नहीं थे। कम से कम सेठ के पाप कर्म के उदय के इस अवसर पर तो वे प्रमाणिक न रह सके। उन्होंने मौके से लाभ उठाया और गोल माल करके बहुत-सी पूंजी हड़प ली। व्यापार में घाटा लग ही रहा था। एक दिन आया कि सोहन शाह की गद्दी उलट गई! दिवाला

निकल गया! कर्जदारों ने सेठ की बची-खुची पूंजी पर अधिकार जमा लिया।

इस अवस्था में भी सेठ प्रसन्न था। वह वर्त्तमान की ओर से आँखें बन्द कर भविष्य के सपने देख रहा था। सोचता था - दुःख किस बात का है! धन तो हाथ का मैल है! आता भी है, जाता भी है! मेरे एक लड़का है, दूसरा और हो जाएगा! दो लड़के क्या कम हैं? दोना मिलकर क्या नहीं कर सकेंगे? चाहेंगे तो धन का ढेर लगा देंगे! मैं वृद्ध हो जाऊंगा तो लड़के मेरी सेवा करेंगे। कोई कष्ट न होने देंगे।

हे आशे! तुम धन्य हो। तुम्हारा आधार पाकर न जाने कितने प्राणियों को आश्वासन मिलता है। तुम दुखिया जनों को, जो जीवन से उकता गये हैं, जीने का आधार देती हो। अगर तुम न होती तो मनुष्य निराशा के चंगुल में फंस कर अपने प्राणों से ही हाथ धो बैठता। तुम्हारी कृपा से मनुष्य जीवन में उत्साह, उमंग पाता है, स्फूर्त्ति पाता है।

सोहन सेठ को स्मरण आया—धन चला गया है, मगर ऊपर-ऊपर का ही तो चला गया है। ज़मीन में गाड़ा हुआ धन अब भी मेरे पास बहुत है। वह ऐसे ही गाढ़े समय के लिए पृथ्वी माता की गोद में रख दिया गया था। अब उसे निकाल कर काम में ले लूंगा।

यह स्मरण आते ही सोहन सेठ ने उसे खोदने का उपक्रम किया। कुदाल लेकर वह स्वयं भिड़ गया। बाप-दादाओं के

द्वारा संचित धन जिस जगह गड़ा था, उस जगह को खोद कर उसने जो देखा तो उसकी छाती बैठ गई। धन की जगह कोयले, मिट्टी और पानी दिखाई दिया! थोड़ी देर के लिए उसकी आँखों के आगे अंधेरा छा गया। उसे असीम निराशा हुई।

पाप का उदय आने पर सभी कुछ विपरीत हो जाता है। सुख के कारण भी दुःख के कारण बन जाते हैं। फूलों की माला भी सर्प का रूप धारण कर लेती है। कहा भी है:—

अमृतं कालकूटं स्यात्, मित्रं शत्रुः सुधीरधीः।
सज्जनो दुर्जनः पापाद्विपरीतं फलं त्विह॥

अर्थात्—पाप के परिपाक से अमृत भयानक कालकूट विष बन जाता है, मित्र शत्रु हो जाते हैं, बुद्धिमान् निर्बुद्धि हो जाता है और सज्जन भी दुर्जन का रूप धारण कर लेता है।

सेठ ने अपने धन को जब कोयले के रूप में देखा तो समझ गया कि अभी दिन उलटे हैं। फिर भी उसने सान्त्वना प्राप्त की। थोड़े ही दिनों में उसकी पत्नी ने द्वितीय पुत्र का प्रसव किया। इस पुत्र के गर्भ में आने पर सारा धन चला गया था, अतएव सेठ ने इसका नाम 'जावडकुमार' रक्खा।

इसी प्रकार सेठानी ने तीसरी बार गर्भ धारण किया। तीसरा पुत्र भी ऐसा ही आया। इसके गर्भ में आते ही घर में आग लग गई। वस्त्र आदि ऊपरी सामग्री जो रह गई थी, वह भी स्वाहा हो गई। अभी तक सोहन सेठ किसी प्रकार धीरज बाँधे था, मगर घर में आग लगने पर उसका धैर्य टूट गया।

यह सोचने लगा—अब क्या होगा ? अब सभी आशाएँ धूल में मिल चुकी हैं। जीवननिर्वाह करना भी कठिन हो गया ! सभी आधार नष्ट हो गए ! हाय दैव ! तू ने यह क्या दृश्य दिखलाया ! कौन जाने किस पाप के उदय से मेरी यह दुर्गति हुई है !

मगर सोहन सेठ का यह विलाप निरर्थक था। इष्ट वस्तु का वियोग होने पर मोही जीव विलाप करते हैं, रुदन करते हैं, छाती और माथा ठोकते हैं, आँसू बहाते हैं। किन्तु इससे कोई लाभ नहीं होता। अलबत्ता, आर्त्तध्यान करने से नवीन पाप कर्म का बन्ध अवश्य होता है और उसका कुफल आगे फिर भुगतना पड़ता है।

जब मनुष्य सांसारिक पदार्थों का सञ्चय करता है, परपदार्थों को अपना बनाता है अर्थात् उन पर अपना ममत्व स्थापित करता है, तभी उसे जान लेना चाहिए कि यह पदार्थ वास्तव में मेरे नहीं हैं; मैं इन्हें जबर्दस्ती अपने बना रहा हूँ। अतएव यह सदा मेरे नहीं रह सकते। किसी न किसी दिन इनका वियोग अवश्यंभावी है। या तो यह मुझे छोड़ कर चले जाएँगे या मैं इन्हें छोड़ कर चला जाऊँगा। मनुष्य ऐसा समझ ले और सदा अपनी समझ को कायम रक्खे तो क्यों उसे उनके वियोग की व्यथा सहनी पड़े ? क्यों आर्त्तध्यान करके अपनी आत्मा को मलिन करने का प्रसंग आवे ? पर मनुष्य वस्तु-स्वरूप को भूल कर मोह में पड़ जाता है। भ्रान्ति के वशीभूत हो जाता है और इस कारण वियोग की पीड़ा का अनुभव करता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि सोहन सेठ धर्म से अनभिज्ञ थे। अतएव अपना सर्वस्व गँवा कर वह अब दुःख का अनुभव करने लगे। किन्तु उसका परिणाम शून्य में आया।

यथासमय तीसरे पुत्र का जन्म हुआ। यह पुत्र सेठ की सारी सम्पत्ति को खा गया था, अतएव उसका नाम 'खावड-कुमार' रक्खा गया।

क्षण-क्षण करके दिन, दिन-दिन करके मास, मास-मास करके वर्ष और वर्ष-वर्ष करके युग व्यतीत होते चले जा रहे हैं। काल का प्रवाह अबाध गति से बह रहा है। बड़े से बड़ा सम्राट्, यहाँ तक कि स्वर्ग का शक्तिशाली स्वामी शक्र भी काल की गति को पल भर भी नहीं रोक सकता। काल के प्रवाह में पड़े हुए सचेतन और अचेतन सभी पदार्थ नये से पुराने होते हैं, सड़ते हैं, गलते हैं और नष्ट हो जाते है। बालक, जवान और जवान, वृद्ध होकर काल के गाल में समा जाते हैं। सदैव से यही क्रम चलता आ रहा है और सदैव यही क्रम चलता रहेगा।

सोहन साहू के आवड, जावड, और खावड बेटे धीरे-धीरे बढ़ने लगे। इधर सोहन साहू का परिवार बढ़ा और उधर धन-सम्पत्ति का स्वाहा हो गया। घर में पाँच प्राणी थे। उनका पालन-पोषण भी उनके लिए कठिन हो गया।

घर में धन था तो सभी पूछते थे। सब सेठ साहब का सत्कार करते थे। सेठजी भगवान् का अवतार समझे जाते

थे। परन्तु आज उन्हें कोई टके सेर नहीं पूछता था। यह दशा देख कर उन्हें पता चल गया था कि वह सन्मान, इज़्ज़त और प्रतिष्ठा उनकी नहीं, धन की थी। जड़ के उपासक धन का सन्मान करते हैं।

संस्कृत भाषा में एक लोकोक्ति है:—

छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।

अर्थात्—जब एक गड़बड़ होती है तो एक ही नहीं होती, उसके साथ अनेक गड़बड़ियां पैदा हो जाती हैं। एक आपत्ति के साथ अनेक आपत्तियां आ पड़ती हैं।

सोहन साह के सम्बन्ध में यही हुआ। जिन पर उनका लेना था वे सब बदल गये। मांगने पर सब ने अंगूठा दिखला दिया; किन्तु लेनदार पीछे पड़ गये। वे सोहन सेठ पर ऐसे झपटे जैसे मरे ढोर पर गिद्ध झपटते हैं। उन्होंने सेठ को परेशान कर दिया। उनके पास जो भी बचा-खुचा था, सब नीलाम करा लिया। अब सोहन साह—एक समय के करोड़पति सेठ, राह के भिखारी बन गये। नगर में रहने को स्थान न रहा। पेट भरने को दाना न रहा। उनकी दशा देखकर अनायास मुख से निकल पड़ता था:—

जीवन तन धन भवन न रहे हैं, स्वजन प्राण छूटेंगे,
दुनिया के सम्बन्ध विदाई की वेला टूटेंगे।
यह क्रम चलता रहा आदि से अब भी चलता जाई,
संयोगों का एक साथ फल केवल सदा जुदाई॥

जब कोई उपाय न रहा तो पाँचों जन नगर के बाहर फूस की झौंपड़ी बना कर रहने लगे और तुच्छ व्यापार करके, जैसे-तैसे रूखी-सूखी खाकर अपने दिन व्यतीत करने लगे। कालक्रम से दो वर्ष इसी अवस्था में व्यतीत हो गये।

हो जल में उत्पन्न जलज ज्यों जल से ही न्यारा है,
त्यों शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है।
तो दुनिया की अन्य वस्तुएँ कैसे होंगी तेरी?
समझ निराले आत्म रूप को मत कह मेरी-मेरी॥

४

पुण्य का बीजवपन

ग्रीष्म ऋतु अपने यौवन में थी। आकाश से दिवाकर की प्रचण्ड किरणें आग उगल रही थीं। धरती चूल्हे पर चढ़े तवे के समान तप रही थी। क्षितिज के एक किनारे से दूसरे किनारे तक आग्नेय लपटें तेजी के साथ दौड़ रही थीं। मनुष्य अपने-अपने आवासों में छिपे पड़े थे। कोई बाहर निकलने का नाम नहीं लेता था। पशुगण सघन वृक्षों की छाया का आश्रय लेकर विश्राम कर रहे थे। पक्षीगण की चहचहाट कहीं सुनाई नहीं पड़ती थी। सर्वत्र निस्तब्धता और नीरवता व्याप्त थी।

ऐसे भयानक समय में मुनिराज धर्मोदय, अपने अनेक अन्तेवासियों के परिवार के साथ, वन की ओर से नगर की ओर बढ़े चले आ रहे थे। वह भी वन में किसी वृक्ष के नीचे दुपहरिया बिता सकते थे; पर शरीर भोजन और पानी चाहता था। वन में, निर्जन प्रदेश में, मुनि जनों के योग्य निर्दोष एवं प्रासुक आहार-पानी कहाँ? अतएव इस विकट अवसर पर भी उन्हें अपना पंथ काटना पड़ रहा था।

पैरों में पादत्राण नहीं, सिर पर छतरी नहीं, बैठने को सवारी नहीं ! मुनियों का मार्ग बड़ा कठिन है ! उस मार्ग पर कायर नहीं चल सकते। सुकुमारों की भी वहाँ गुज़र नहीं। तीर्थंकर का आदेश है कि जिसे मुनियों के पंथ के पथिक बनना है, उसे अपने आपको तपाना होगा और सुकुमारता को तजना होगाः—

आयावयाही, चय सोगमल्लं ।

अर्थात्—हे मुनि ! तू आतापना ले, सुकुमारता का परित्याग कर दे।

मुनिराज धर्मोदय तीर्थङ्कर के इसी मार्ग पर चल रहे थे। पाँव चल रहे थे, मगर उनकी गति में तीव्रता नहीं थी, घबराहट नहीं थी। वे 'दवद्वस्स न गच्छेज्जा' अर्थात् मुनि भागता-दौड़ता नहीं चले; आगम की इस मर्यादा को ध्यान में रखकर, ईर्या समिति के साथ, गंभीर गति से चल रहे थे। मानों ग्रीष्म के संताप को उन्होंने अपने प्रबल आत्मबल से जीत लिया था। वे विमल भावनाओं के शान्त सरोवर में अवगाहन कर रहे थे या समता के अतल सागर में निमग्न थे। अतएव उन्हें ग्रीष्म का प्रखर ताप व्याकुल नहीं कर सकता था। जिसके अन्तस्तल में ताप नहीं होता, संभवतः बाहर का ताप उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। वह उलटा उनकी साधना में सहायक बन जाता है।

धर्मोदय ऋषि चलते-चलते सोहन साह की झोंपड़ी के निकट आकर खड़े हो गए। मुनियों का गला प्यास से सूख

रहा था। उनमें से कुछ मुनि सोहन साहू की झोंपड़ी के द्वार पर पहुँचे। प्रासुक पानी की याचना की। साहूजी ने मुनियों को तक्र का दान दिया।

निर्दोष तक्र लेकर मुनि समीप ही एक वृक्ष के नीचे चले गये। तक्रपान करके उन्होंने अपनी पिपासा शान्त की और वहीं विश्राम करने लगे।

सोहन साहू ने साधुओं की यह कठोर चर्या देखी तो उनका हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया। वह मन ही मन मुनियों के तप, त्याग और संयम की प्रशंसा करने लगे। थोड़ी देर में वह उसी वृक्ष के नीचे जा पहुँचे, जहाँ मुनि विश्राम कर रहे थे। उनकी पत्नी भी उनके साथ थी।

साहू ने जाकर मुनियों को नमस्कार किया। फिर विनम्र भाव से कहा—'दीनदयाल! मेरी इस दुर्दशा का क्या कारण है ?' यह कह कर उन्होंने अपनी पूर्वावस्था का वर्णन करके वर्त्तमान स्थिति को भी स्पष्ट कर दिया।

साहू का प्रश्न सुनकर ऋषिराज बोले—भद्र! कर्म की गति बड़ी विचित्र है। संसारी जीव कर्मों के वशवर्त्ती हैं। कर्मों के प्रभाव से सदा काल एक-सी स्थिति नहीं रहती। जैसे-जैसे कर्म उदय में आते हैं, वैसा-वैसा फल उन्हें भोगना पड़ता है। कहा भी है:—

कर्मों और कषायों के वश होकर प्राणी नाना—
कायों को धारण करता है, तजता है जग जाना।

है संसार यही, अनादि से जीव यहीं दुख पाते,
कर्म-मदारी जीव-वानरों को हा ! नाच नचाते ॥
कभी नरक गति में जाता है, बीज पाप का बो कर,
घोर व्यथाएँ तब सहता है दीन नारकी होकर ।
छेदन-भेदन ताड़न-फाड़न की है अकथ कहानी,
पडे विलखते सदा नारकी मिले न दाना-पानी ॥
निकल नरक से कभी जीव तिर्यंच योनि में आता,
वध-बन्धन के भार-वहन के कष्ट कोटिशः पाता ।
एक श्वास में बार अठारह जन्म-मरण करता है,
आपस में भी एक दूसरा प्राण हरण करता है ॥
मानव भव पाकर भी कितने मनुज सुखी होते हैं,
विविध व्याधियों के वश होकर अगणित नर रोते हैं ।
अङ्गोपांग विकल हो अथवा पागल होकर अपना—
जीवन हाय विताते कब हो पूरा मन का सपना ॥
दानव-सा दारिद्र्य किसी को, स्वजन-वियोग किसी को,
पुत्र-अभाव किसी को, अप्रिय का संयोग किसी को ।
नाना चिन्ताए डाइन की भाँति खड़ी रहती हैं,
इस प्रकार दुनियां में दुख की सरिताएँ वहती हैं ॥

हे भव्य ! संसार में कोई भी प्राणी सुखी नहीं है । जब तुम धनवान् थे तो पुत्र के लिए दुखी थे । अब पुत्रवान् हुए तो

धन के लिए दुखी हो। सभी संसारी जीवों का यही हाल है। सब किसी न किसी दुःख से पीड़ित हैं। उनके दुःखों का मूल कारण कर्म ही है। नरेन्द्र और सुरेन्द्र भी कर्मों के चक्कर से नहीं बच पाते तो साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है?

पहले जो कर्म उपार्जन किये जा चुके हैं, उनके परिणाम को पलट देने की क्षमता किसी में नहीं है। उनके फल से बचने की चेष्टा सफल नहीं हो सकती। अतएव निराकुल भाव से, मध्यस्थ परिणामों से उनका फल, भोगना चाहिए। हाय-हाय करने से लाभ के बदले हानि ही होती है। इस समय का वर्त्तमान, भविष्य का निर्माता है। अतएव अपने भविष्य को सुधारने का अर्थ वर्त्तमान को सुधारना है। जो इस जीवन को सुधारेगा, उसका भावी जीवन स्वतः सुधर जायगा। अतएव अगर तुम अपने भविष्य को मंगलमय बनाने के अभिलाषी हो तो समभाव धारण करो। बुरी से बुरी परिस्थिति में भी आर्त्तध्यान से बचो।

हे भद्र! चिन्ता करने से या शोक मनाने से दुःख नहीं मिटता। कृत कर्मों का फल कायरता से नहीं, वीरता से भोगना चाहिए और धर्म के प्रति प्रेम जगाना चाहिए। वीतराग द्वारा प्ररूपित धर्म का आचरण करने से पापों का पुंज भी नष्ट हो सकता है।

चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।

संसार में सुख और दुःख गाड़ी के पहिये की भाँति घूमते रहते हैं। अतएव मत समझो कि तुम्हारे ऊपर जो दुःख
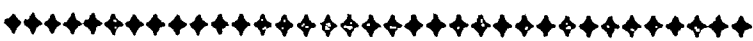
आ पड़ा है, वह शाश्वत है, कभी नष्ट ही न होगा। जब सुख न रहा तो दुःख भी नहीं रहेगा। पुण्य क्षीण होने पर सुख का नाश हो गया तो पाप का क्षय होने पर दुःख भी नष्ट हो जाएगा। पुण्य कर्म स्थायी नहीं है तो पाप कर्म भी स्थायी नहीं हैं। अतएव चिन्ता न करो। शान्तचित्त होकर भगवान् का भजन करो, अपने अन्तःकरण को निर्मल बनाओ और जो-जो परिस्थिति तुम्हारे सामने आवे, समभाव से उसका स्वागत करो। यही सुख का राजमार्ग है। यही शान्ति प्राप्त करने का उपाय है। इसी प्रकार तुम्हारा मंगल होगा।

५
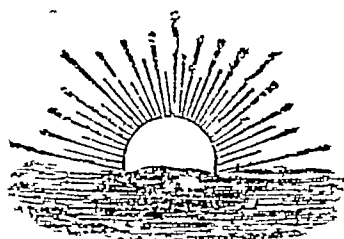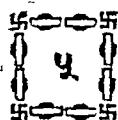
जिनदास का जन्म
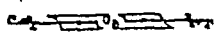
पुण्यमेव भवमर्मदारणं, पुण्यमेव शिवशर्मकारणम् ।
पुण्यमेव हि विपत्तिशामनं, पुण्यमेव जगदेकशासनम् ॥

पुण्य परम्परा से जन्म-मृत्यु का अन्त करता है, पुण्य ही मुक्ति के आनन्द को देने वाला है, पुण्य ही समस्त विपत्तियों को शमन करता है और पुण्य ही संसार का अद्वितीय शासक है।

सोहन साह और उनकी पत्नी को मुनिराज की वाणी सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ। अब तक वह धर्म से सर्वथा विमुख थे, अब धर्म की ओर कुछ उन्मुख हुए। उन्होंने धर्माचरण-नित्य-नियम करने का विचार किया।

आखिर पाप कर्मों का अन्त आया। सेठानी पुनः गर्भवती हुई। इस बार पुण्य के उदय से एक पुण्यवान् जीव गर्भ में आया। उसके गर्भ में आने पर सेठानी को कुंभ का स्वप्न आया। जब सेठानी ने अपने स्वप्न की बात सेठ को सुनाई तो उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। सेठ समझ गया कि यह सब धर्म-

ध्यान का ही प्रताप है। अतएव उसने धर्मध्यान में और अधिक वृद्धि की।

व्यापार में लाभ होने लगा। जिन लोगों पर सेठजी का ऋण लेना था, वह भी नरम पड़ने लगे-कर्ज़ा चुकाने लगे। व्यापार में लाभ होने और ऋण की वसूली होने के कारण सोहन साहू के पास पैसा जुटने लगा। जिसने सेठ की हवेली पर कब्जा कर लिया था, वह एक दिन आया और बोला--सेठजी, मैं इतनी बड़ी हवेली लेकर क्या करूंगा! आप मुझे रुपया दे दें और अपनी जगह वापिस ले लें।

सोहन साहू ने भी यही उचित समझा। अब उनके पास इतना द्रव्य संचित हो गया था कि वे अपनी हवेली वापिस ले लें। उन्होंने यही किया। वे अपने बाप-दादों की जगह में आ गये। झौंपड़ी छूट गई। इस अवसर पर सेठ-सेठानी को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, यह तो वही जान सकता है जो ऐसी स्थिति में आया हो।

गर्भ जब तीन मास का हुआ तो सेठानी को दोहद उपजा। दोहद यह कि दानधर्म करके लाभ उठाऊँ! सेठ-सेठानी ने ऐसा ही किया। अपनी शक्ति के अनुसार, उदार भाव से उन्होंने दान दिया और चारों तीर्थों की यथायोग्य भक्ति की। पुण्य के योग से उनकी सब अभिलाषाएँ पूर्ण होने लगीं। किसी बात की कमी न रही।

सेठानी अतिशय सन्तोष और प्रेम के साथ गर्भ का पालन करने लगी। वह गर्भवती के योग्य आहार-विहार

करती और गर्भ को हानि पहुँचाने वाले आहार-विहार से बचती रहती। वह परिमित और पथ्य भोजन करती थी। सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न करती। चिन्ता, शोक या भय आदि के कारणों से दूर ही रहती। मन में पवित्र भावनाएँ जगाती। दुष्ट सकल्पों को क्षण भर के लिए भी मन में उदित न होने देती। तात्पर्य यह है कि गर्भ को क्षति पहुंचाने वाला कोई आचार-विचार नहीं करती थी।

अन्ततः नौ मास पूरे हो गये। सेठानी के उदर से एक सुन्दर, शुभ लक्षणों से सम्पन्न, पुण्यशाली शिशु का जन्म हुआ। सेठजी ने अतिशय उत्साह के साथ पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। स्वजनों और परिजनों को भी इससे अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

नाल गाड़ने के लिए ज़मीन खोदी तो धन का ख़ज़ाना अचानक ही निकल पड़ा। अब तो सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसे विश्वास हो गया कि नवागत शिशु अतीव पुण्यशाली है और इसी की कृपा से हमारे दिन फिरे हैं। धन का निधान मिलने से सेठ के सभी दुःख दूर हो गये। आनन्द हो गया। उसने दिल खोल कर, मुक्त हस्त से दान दिया। पुण्यवान् के पास सम्पत्ति आती है तो वह शुभ कार्यों में ही उसका व्यय करता है।

नामकरण संस्कार का अवसर आया। सेठजी ने अपने समस्त ज्ञातिजनों को और स्नेही मित्रों को आमंत्रित किया। उदारता के साथ बहुमूल्य भोजन बनवाया। सब को जिमा कर यथोचित रूप से सम्मानित किया। फिर शिशु का नामकरण

संस्कार किया गया। जिनधर्म की आराधना करने के फल-स्वरूप ही इस पुण्यवान् पुत्र का जन्म हुआ था। यह बात लक्ष्य में रख कर सोहन सेठ ने उसका नाम 'जिनदास' रक्खा। यह नाम सुनकर सभी उपस्थित जनों को प्रसन्नता हुई। सब ने हर्ष मनाया और शिशु के कल्याण की अन्तःकरण से कामना की। अन्त में ताम्बूल आदि खाकर सब लोग अपने-अपने स्थान पर चले गये।

जिनदास के पुण्य के प्रभाव से सोहन सेठ की सम्पत्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। अब उनके पास पहले से भी अधिक धन संचित हो गया। धन के साथ प्रतिष्ठा भी बढ़ी, कीर्त्ति भी बढ़ी, आदर-सन्मान भी बढ़ा। सो ठीक ही है, क्योंकिः—

पत्नी प्रेमवती सुतः सविभवो भ्राता गुणालङ्कृतः,
स्निग्धो बन्धुजनः सखाऽतिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः।
निर्लोभोऽनुचरः स्वबन्धुसुमुनिप्रायोपयोग्य धनम्,
पुण्यानामुदयेन सन्ततमिदं कस्यापि सम्पद्यते ॥

अर्थात्—स्नेहशीला पत्नी, विनीत पुत्र, सद्गुणी भाई, स्नेही बन्धुजन, अत्यन्त कुशल मित्र, सदा प्रसन्न रहने वाला स्वामी, निर्लोभ नौकर, अपने बन्धुओं और सन्तों तथा सतियों के उपयोग में आने योग्य द्रव्य-यह सब सामग्री पुण्य के योग से ही प्राप्त होती है।

आशय यह है कि जब पुण्य का उदय होता है तो मनुष्य को सभी इष्ट और अनुकूल सामग्री की प्राप्ति होती है। पुण्यवान्

की सब अभिलाषाएँ अनायास ही पूर्ण हो जाती हैं। इस जगत् में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो पुण्यवान् के लिए दुर्लभ हो सके। पुण्य कल्पवृक्ष के समान यथेष्ट फल का दाता है। अतएव जो सुख की सामग्री प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें और सब यत्न त्याग कर पुण्य की साधना करनी चाहिए। पुण्य का सञ्चय कर लिया तो सब सम्पत्ति सहज ही मिल जायगी।

एकहिं साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।

एक मात्र पुण्य की साधना करने से धन-सम्पत्ति, परिवार, प्रतिष्ठा आदि सब प्रिय वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं।

एक पुण्यशाली प्राणी के प्रताप से सोहन साहू का सारा परिवार सुखी हो गया। अब उनके दिन आनन्द में व्यतीत होने लगे। साहू ने अपने तीनों लड़कों को पढ़ाया-लिखाया। उनका विवाह भी कर दिया। तीनों धंधे में लग गये। सब के दुःख दूर हो गये।

मगर आवड़, जावड़ और खावड़—तीनों भाई धन-सम्पत्ति पाकर इतराने लगे। उन्होंने धर्म-कर्म सब त्याग दिया। विषयों में आसक्त हो गये। जो नियम और व्रत पालते थे, सब छोड़ बैठे। भक्ष्य-अभक्ष्य का भान भी भूल गये। कन्दमूल आदि का आहार करने लगे। सातों कुव्यसनों का सेवन करने में निष्णात हो गये। ठीक ही कहा है:—

द्रव्येण जायते कामः, क्रोधो द्रव्येण जायते।
द्रव्येण जायते लोभो, मोहो द्रव्येण जायते॥

अर्थात्—द्रव्य काम को उत्पन्न करता है, द्रव्यवान् को घात-वात में क्रोध आता है, द्रव्य से लोभ का उदय होता है और द्रव्य मोह का भी जनक है।

जब तक सोहन साह के यह तीनों कुंवर दुःख में थे, पैसे पैसे को मुँहताज थे, भर पेट भोजन भी नहीं पाते थे, तब तक उनकी अक्ल दुरुस्त थी, पर धन होते ही उनकी बुद्धि पर पर्दा पड़ गया। उन्होंने धर्म को धता बना दिया। वे भूल गये कि आज उनकी जो सुधरी हुई हालत है, उसका एक मात्र कारण धर्म ही है!

इधर उनका चौथा पुत्र जिनदास, जिसके पुण्य-प्रताप से यह परिवार सुखी और सम्पन्न बना था, आठ वर्ष का हो गया। वह अध्यापक के पास शिक्षा ग्रहण करने लगा। उसकी बुद्धि बड़ी ही प्रखर थी। बुद्धि की तीव्रता और तीक्ष्णता देख कर उसके अध्यापक को भी विस्मय और हर्ष होता था। एक बार उसे जो कुछ सिखा दिया जाता था, कभी दोबारा सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वह सदा के लिए उसे धारण कर लेता था। अध्यापक ऐसे कुशाग्रबुद्धि शिष्य को पाकर अपने आपको धन्य समझता था।

अध्यापक को जब विश्वास हो जाता है कि मेरा शिष्य योग्य है और मैं सुपात्र को ज्ञान दे रहा हूँ, तब वह अपने हृदय के सभी द्वार खोल देता है। अत्यन्त प्रीति के साथ, वह उसे अपना सचित ज्ञान धन प्रदान कर देता है। जिनदास ऐसा ही सुपात्र शिष्य था। अध्यापक ने दिल खोल कर उसे अंक विद्या और अक्षरविद्या का मर्म समझाया।

जिनदास स्वभाव से ही नम्र, विनीत शान्त, मधुरभाषी गंभीर और सत्यवादी था। विनीत होने के कारण उसे अनायास ही विद्या आ गई। अन्यान्य सद्गुणों ने उसके व्यक्तित्व को चमका दिया। अध्यापक उसे हृदय से स्नेह करते थे। जिनदास जिस किसी के परिचय में आता, वही उसे प्यार करने लगता। उसकी गंभीरता और शान्ति देख कर लोगों को आश्चर्य होता था कि इस बालवय में चपलता के बदले इतनी गंभीरता और शान्तता इस बालक में कहाँ से आ गई ?

जिनदास अपने अध्यापक का विनय करता। अपने माता-पिता का आदर करता था। बड़े भाइयों के प्रति भी आदर का भाव रखता था। उच्च कुल, उच्च जाति और सुसंस्कारों से युक्त आदर्श परिवार के बालकों में जो विशेषताएं पाई जाती हैं, वही सब उसमें थी और असाधारण रूप में थीं। यही कारण था कि वह अपने माता-पिता के नयनों का तारा, अतिशय प्यारा बन गया था।

जिनदास ने स्वल्प काल में ही सभी कलाओं में कुशलता प्राप्त कर ली। वह गंभीर से गंभीर बातों को समझने लगा। फिर भी वह अध्ययनशील था। निरन्तर पढ़ना-लिखना रहता और अपने ज्ञान का भंडार बढ़ाता रहता था। वह तन के, मन के, हृदय के और बुद्धि के विकास में संलग्न था। पूर्वोर्जित पुण्य के प्रभाव से उसे सभी सुखप्रद सामग्री उपलब्ध थी।

६

धर्मनिष्ठ कुटुम्ब

इसी महेन्द्रपुर नगर में श्रीपति नामक एक धनसम्पन्न श्रेष्ठी निवास करते थे। श्रीपति सेठ इस नगर के सब से बड़े सेठ थे। उन्हें नगरसेठ की पदवी दी गई थी। नगरसेठ प्रवचन के ज्ञाता थे, श्रमणोपासक के बारह व्रतों का परिपालन करते थे और सामायिक-प्रतिक्रमण आदि षडावश्यकों को अखंडित और अबाधित रूप में पालन करते थे। पर्व के दिनों में उपवास और पोषध आदि क्रियाओं को करने में कभी नहीं चूकते थे। संक्षेप में कहा जाय तो श्रीपति सेठ श्रावक के सभी लक्षणों से सम्पन्न थे। श्रावक के लक्षण यह हैं:—

सिद्धान्तश्रवणे श्रद्धा, विवेकव्रतपालनम्।
दानादिकरणं सेवा, ह्येतच्छ्रावकलक्षणम्॥

अर्थात्—वीतराग भगवान् के सिद्धान्त को सुनने में श्रद्धा-रुचि रखना, विवेकपूर्वक बारह व्रतों का पालन करना, यथाशक्ति दान, शील, तप और भावना रूप चतुर्विध धर्म की

आराधना करना, मुनियों की सेवा एवं उपासना करना, यह श्रावक के लक्षण हैं।

इन लक्षणों में श्रावक-जीवन की अनेक बातें अन्तर्निहित हैं, जिन्हें दूसरे ग्रन्थकार ने थोड़ा खुलासा करके बतलाया है:-

नो भुञ्जेत् किल रात्रिभोजनमथो, नो कन्दमूलाशनम्,
नो कुर्याद् ध्रुवमन्यदारगमनं, मात्रा समं मन्यते।
नो सेवेत कदापि सप्तव्यसनं, नो दीर्घवैरं तथा,
यस्यैतद् गुणपञ्चकं हृदि वसेत्तच्छ्रावकत्वं परम्॥

अर्थात्—श्रावक में मुख्य पाँच बातें अवश्य होनी चाहिए। श्रावक रात्रि में भोजन न करे, कन्दमूल का जो अनन्त वनस्पतिकायिक जीवों का पिण्ड है, भक्षण न करे, परस्त्री को माता के समान समझ कर कदापि सेवन न करे, कभी सात कुव्यसनों का सेवन न करे और दीर्घ वैर न करे अर्थात् किसी के प्रति लम्बे काल तक गांठ बाँध कर वैरभाव धारण न किये रहे। यह लक्षण जिसमें पाये जाते हैं, उसी को श्रावक कहा जा सकता है।

श्रीपति सेठ में श्रावकत्व के यह सब लक्षण पूरी तरह घटित होते थे। वह साधु-सन्तों को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार देने के लिए सदा उत्कंठित रहते थे। अपने धर्म की ज्ञान और आचरण के द्वारा प्रभावना करते थे। साधर्मी भाइयों को ज्ञान के उपकरण-शास्त्र आदि—देते रहते थे। हृदय के उदार थे। अपरिमित लोभ-लालच उनसे कोसों दूर था।

सन्तोषशील थे। न्यायपरायण और निरभिमान थे।

उनकी पत्नी का नाम 'शिवा' था। 'शिवा' सचमुच शिवा अर्थात् कल्याणी थी। धर्म पर उसकी गाढ़ी प्रीति थी। इनके उदर से दो सन्तानों ने जन्म लिया था। एक पुत्र था, जिसका नाम धर्मचन्द्र था और एक कन्या थी, जिसका नाम 'सुगुणी' था।

श्रीपति सेठ की दोनों सन्तान धर्मप्रिय थी। उन्हें धर्म-शास्त्र का अच्छा ज्ञान दिया गया था। स्वभाव से दयालु और शील सम्पन्न थीं।

बहुत अंशों में सन्तान माता-पिता के संस्कारों को ग्रहण करती है। भलाई-बुराई सीखने का प्रधान साधन संतान के लिए माता-पिता ही हैं। सब से अधिक सम्पर्क माता-पिता के साथ रहने के कारण सन्तान उनके प्रत्येक व्यवहार को ध्यानपूर्वक देखती है और उसी से वैसा सीखती है। यही कारण है कि घर का मुखिया अगर भला होता है तो घर के लोग भी भले बनते हैं। कभी-कभी इस कथन में अपवाद भी देखे जाते हैं, फिर भी अधिकांश में यही नियम चरितार्थ होता है।

श्रीपति सेठ का परिवार वास्तव में आदर्श था। सब छोटे और बड़े सन्तों का समागम करते थे, धर्मक्रिया करते थे, यथोचित दान देते थे, दूसरों के धर्मपालन में सहायक बनते थे और प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग करते थे। सन्ध्या समय सारा परिवार एकत्र होता था और धर्म तथा नीति की चर्चा में

अपने समय का सद्व्यय करता था। कोई किसी की निन्दा, कुवड़ाई या विकथा न करता था। सब सब का यथा-योग्य आदर करते और सब सब से प्रेम करते थे। इस प्रकार आनंद-पूर्वक इस परिवार का काल व्यतीत हो रहा था। पुण्यवान् को पुण्यवानों का योग मिल गया था।

एक बार महेन्द्रपुर में धर्मजय ऋषि का पदार्पण हुआ। उनके अनेक शिष्य उनके साथ थे। ऋषिजी चरण-करण के धाम, गुणों के धाम और ज्ञान के निधान थे। वे निर्दोष स्थानक की याचना करके एक जगह ठहर गये।

मुनिराज के आगमन का वृत्तान्त समस्त नगर में फैल गया। इससे समस्त भव्य एवं धर्म प्रेमी जीवों को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। जिसने मुनि के आगमन का वृत्तान्त सुना, वही दर्शन करने को चल पड़ा। स्थानक में एक बड़ा-सा समूह एकत्र हो गया। ऋषिराज ने सब को वीतराग देव की वाणी सुनाई। आपके मधुर, वैराग्यपूरित और कल्याणकारी उपदेश को सुन कर सब श्रोताओं को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

ऋषिराज का विशाल भाल ब्रह्मचर्य और तप के तेज से प्रदीप्त था। तपस्या के कारण और वृद्धावस्था के कारण काया कृश हो गई थी। वे वयःस्थविर अवस्था में जा पहुँचे थे। अतएव धर्मोपदेश के अनन्तर सब श्रावकों और श्राविकाओं ने खड़े होकर प्रार्थना की—गुरुदेव ! आपकी काया अब ग्रामानु-ग्राम विचरने योग्य नहीं रही है। अतएव अनुग्रह करके आप

यहीं स्थिरवास कीजिए। आपके यहाँ विराजमान रहने से धर्म की खूब वृद्धि होगी।

अवसर देख कर मुनिराज ने उत्तर दिया-देखा जायगा। केवली भगवान् ने अपने ज्ञान में जैसा देखा है, वही होगा।

इतना आश्वासन सुन कर सब लोग प्रसन्न हुए और अपने-अपने घर चले गये। श्रीपति सेठ भी अपनी हवेली में आ गये।

हवेली में आकर नगरसेठ श्रीपति ने अपने परिवार से कहा—देखो, सौभाग्य से अपने नगर में मुनिराज पधारे हैं। अतएव कोई उनके दर्शन किये विना भोजन न करे। सब को विनय और भक्ति के साथ, थोड़ा-बहुत, नित्य नया ज्ञान सीखना चाहिए। यह स्वर्ण-अवसर है। ऐसा अवसर वार-वार नहीं मिलता। पुण्य योग से ही यह मौका मिला है।

परिवार के लोगों ने प्रसन्नता पूर्वक सेठजी के आदेश को शिरोधार्य किया। कहा—धन्य भाग्य हैं हमारे जो आप जैसे विवेकशील अग्रणी प्राप्त हुए। कुमार्ग की ओर ले जाने वाले स्वजन तो बहुत मिलते हैं, किन्तु धर्म पथ पर चलाने वाले आप सरीखे कहीं विरले ही होते हैं।

दूसरे दिन से वही क्रम चल पड़ा। नगरसेठ के कुटुम्बी जन अतिशय विनय के साथ, श्रद्धा—भक्ति पूर्वक ज्ञान सीखने लगे। सेठजी की सुपुत्री सुगुणी धर्म में प्रगाढ़ निष्ठा रखती थी। जैसे पानी में तेल की एक बूंद भी फैल जाती है, उसी प्रकार

उसकी अन्तरात्मा में थोड़ी-सी धर्म शिक्षा भी विशाल रूप धारण कर लेती थी। सुगुणी अल्पवयस्का बालिका थी, फिर भी उसने बहुत-से शास्त्रों का सुलझा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वह नौ तत्त्वों को, द्रव्य-पर्याय को, गुणस्थानों और प्रमाणों को तथा अन्यान्य शास्त्रीय विषयों को भली भाँति समझती थी। उसने आचार शास्त्र में भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। अब उसके विवाह की चर्चा चलने लगी थी।

एक दिन लजाती-लजाती सुगुणी पिता के सामने आई। श्रीपति ने कहा—बिटिया! आज इस समय कैसे?

सुगुणी—यों ही चली आई पिताजी!

श्रीपति—मगर चेहरे से तो जान पड़ता है, कोई बात है।

सुगुणी ने सिर नीचा कर लिया। उसका चेहरा लज्जा से लाल हो गया।

श्रीपति—बिटिया! बाप से कोई बात छिपाने की आवश्यकता नहीं। जो मन में हो, वही वचन में होना चाहिए।

सुगुणी—नहीं, बात छिपाने के लिए आपके पास आने की आवश्यकता ही क्या थी? छिपाना चाहती तो आती ही क्यों?

श्रीपति—तो फिर कह डालो।

सुगुणी—आप तो जानते ही हैं कि संगति का प्रभाव पड़ता है। जो जैसी संगति में रहेगा, वैसा ही हो जायगा।

श्रीपति—बिलकुल ठीक।

सुगुणी—तो मैं सत्संगति चाहती हूँ।

श्रीपति—किस प्रकार?

सुगुणी—नारी को जीवन भर दूसरे के सहारे रहना पड़ता है। पति ही उसका प्रधान आलम्बन है। मैं रूप की प्यासी नहीं हूँ, धन की भूखी नहीं हूँ। मुझे धर्म प्यारा है-प्राणों से भी अधिक। अतएव मैं किसी धर्मनिष्ठ का ही साहचर्य चाहती हूँ।

श्रीपति को अपनी कन्या का मूर्त्त धर्मप्रेम देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ। उन्होंने कहा—बेटी, तेरी भावना सराहनीय है। मैं तेरी इच्छा के अनुरूप ही तेरे लिए साथी खोजूँगा।

सुगुणी—पिताजी, आपसे मुझे यही आशा थी।

श्रीपति—बेटी, कन्या का पिता जब लोभ-लालच और कुत्सित स्वार्थ के वशीभूत हो जाता है, तब वह अनमेल जोड़ा मिलाता है। ऐसे पिता को मैं कसाई से अधिक पापी समझता हूँ। वे अपनी सन्तति के घोर शत्रु हैं, कन्याद्रोही हैं। उनका मुख देखना भी पाप है। पुत्री! तू निश्चिन्त रह। मैं अनुरूप जोड़ी ही मिलाने का प्रयत्न करूँगा। मैं भलीभाँति समझता हूं कि सुसंगति ही सुखदायक होती है। मैं तुझे बधाई देता हूँ कि तू ने अपनी इच्छा मेरे समक्ष प्रकट कर दी।

७

जिनदास की धर्मप्राप्ति
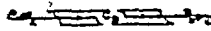
नगर सेठ श्रीपति का पुत्र धर्मचन्द्र और सोहन साह का पुत्र जिनदास—दोनों एक ही अध्यापक से शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। दोनों गुरु-भाई थे। दोनों की उम्र, बुद्धि और बल एक सरीखा था। कहावत है:—

समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।

अर्थात् एक सरीखे स्वभाव वालों और एक-सी उम्र वालों में मैत्री हो जाती है। इस कथन के अनुसार इन दोनों बालकों में मित्रता हो गई थी। दोनों होड़ लगा-लगा कर विद्याभ्यास किया करते थे। जिनदास, धर्मचन्द्र के रथ पर सवार होकर पढ़ने आया करता था।

रास्ते में स्थानक पड़ता था। स्थानक आता तो धर्मचन्द्र अपना रथ रुकवा लेता और उत्तरासन करके, जूते खोल कर स्थानक में जाता और मुनिराज के दर्शन किया करता था। पहले ही कहा जा चुका है कि सोहन सेठ का घर धर्म से अनभिज्ञ था। अतएव जिनदास को मुनियों के सम्बन्ध में भी कोई

जानकारी नहीं थी। एक दिन जिनदास ने धर्मचन्द्र से पूछा— मित्र! प्रतिदिन इस मकान में किस लिए जाया करते हो?

धर्मचन्द्र—इस मकान में हमारे धर्मगुरु विराजमान हैं। बडे महात्मा हैं। उनके दर्शन से भव-भव के पातक दूर हो जाते हैं। गुरु महाराज की संगति से ज्ञान की प्राप्ति होती है।

जिनदास—अच्छा, तो मैं भी उनके दर्शन करना चाहता हूँ। क्या तुम्हारे साथ चल सकता हूँ? साथ ले चलो तो कृपा होगी।

धर्मचन्द्र—बन्धु, मुनि प्राणी मात्र के त्राता और हितकारी हैं। उनके पास जाने की किसी को मनाई नहीं है। सब समान रूप से उनके दर्शन कर सकते हैं और उनका उपदेश सुन सकते हैं। वे जगत् के हैं और सारा जगत् उनका है। इच्छा हो तो खुशी से चलो।

जिनदास पुण्यवान् बालक था। उसका होनहार अच्छा था। अतएव उसे सद्बुद्धि उपजी और वह धर्मचन्द्र के साथ हो लिया। दोनों मुनिराज के निकट पहुँचे। धर्मचन्द्र ने विधि के अनुसार वन्दना की। जिनदास उस विधि से परिचित नहीं था, फिर भी उसने धर्मचन्द्र का अनुकरण किया। जिस विधि से धर्मचन्द्र ने वंदना की थी, उसी विधि से उसने भी वंदना की।

मुनिराज ने आज इस नवागत बालक को देखा। उन्होंने यह भी समझ लिया कि बालक बड़ा विचक्षण, शीलवान्, पुण्यवान् और गुणवान् है। इसके प्रत्येक अङ्ग पर प्रशस्त लक्षण और व्यंजन सुशोभित हैं।

इस प्रकार जिनदास का विनय-विवेक आदि देखकर मुनिराज का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो गया। तब मुनिराज ने धर्मचन्द्र से पूछा—भाई, यह कौन हैं? पहले इन्हें कभी नहीं देखा।

धर्मचन्द्र—गुरुदेव, यह यहाँ के सोहन सेठ के सुपुत्र हैं। इनके घर में जैनधर्म की मान्यता नहीं है, फिर भी इनका नाम 'जिनदास' है। आज इनका परम पुण्य उदय में आया है, जो आपके दर्शन हुए।

ऋषिराज को बालक का नाम, गुण, कर्म आदि जानकर आश्चर्य हुआ। साधु परोपकारी होते हैं। स्वयं संसार सागर से तिरने के लिए प्रयत्नशील होते हुए दूसरों को भी तारने का प्रयत्न करते हैं। यथाः—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो,
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णा स्वयं भीममहार्णवं जनान्,
न हेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

मुनिराज शान्ति के सुधारस का आस्वादन करते हैं, गुणों से महान होते हैं, वसन्त के समान अभेदभाव से अखिल जगत का हित करते विचरते हैं; स्वयं भयानक भव वारिधि को पार कर चुके हैं और बिना किसी स्वार्थ के अन्य जनों को भी तारने के लिए उद्यत रहते हैं।

धर्मजय मुनि ऐसे ही सन्त थे। वह चलने-फिरने वाले कल्पतरु थे। अनन्त करुणा के अवतार थे। परोपकार करने वाले महान् आत्मा थे। अतएव उन्होंने जिनदास के कल्याण के लिए, सरस, सरल और मधुर शब्दों मे धर्म का उपदेश किया। कहा.—

हे भद्र! चौरासी लाख जीवयोनियाँ हैं। यह आत्मा नाना रूप धारण करके उनमें अनादि काल से भटक रहा है। कभी नारक बना है, कभी पशु के रूप में उत्पन्न हुआ है। कभी कीट-पतंग बना है। इसने अनेक योनियों में घोर व्यथाएँ सहन की हैं। प्रबल पुण्य के योग से अब इसे मनुष्य जीवन मिला। आर्य क्षेत्र मिला। उत्तम कुल मिला। दीर्घ आयु मिली। परिपूर्ण पाँचों इन्द्रियाँ मिली हैं। धनाढ्य कुल में जन्म लिया है। निर्ग्रन्थ सन्तों का समागम भी हो गया है। अब धर्म का आचरण करना चाहिए। यह सब साधन अत्यन्त दुर्लभ हैं, प्रकृष्ट पुण्य का उदय होने पर ही इनकी प्राप्ति होती है जो इस सामग्री का सदुपयोग करके आत्म-कल्याण करता है, वह धन्य है। इसके विपरीत, जो वृथा जीवन व्यतीत कर देता है, समझना चाहिए कि वह अपने पूर्वोपार्जित कर्म भुगत रहा है और आगे के लिए दरिद्र बन रहा है। अपना भविष्य बिगाड़ रहा है।

भाई, जरा विचार करो कि मनुष्य और पशु में अन्तर क्या है? पशु भी खाते-पीते, सोते, विषयों का उपभोग करते और अपनी जान बचाने का प्रयत्न करते हैं और मनुष्य भी यही सब करता है। इन सब क्रियाओं से दोनों में कोई भिन्नता नहीं

है। अगर कोई भिन्नता है तो वह धर्म के द्वारा ही है। मनु जिस विशिष्ट धर्म की आराधना कर सकता है, पशु नहीं क सकता। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म का आचर नहीं करता, उसमें और पशु मे कोई खास अन्तर नहीं है अन्तर है भी तो यही कि पशु मे विशेप धर्म करने योग्य विवे नहीं है, किन्तु मनुष्य विवेक होते हुए भी धर्म नहीं करता अतएव उसे पशु से भी गया-बीता समझना चाहिए।

संसार मे सारभूत वस्तु धर्म ही है। अन्तिम समय जब समस्त स्वजन और परिजन छूट जाते हैं, कोई साथ देने समर्थ नहीं होता, तब एक मात्र धर्म ही सहायक होता है धर्म से ही लौकिक और लोकोत्तर सुखों की प्राप्ति होती है। धर्म कल्याण का एक मात्र साधन है। कहा भी है:—

धम्मेण कुलपसूई धम्मेण य दिव्वरूवसपत्ती।
धम्मेण धणसमिद्धी, धम्मेण सुवित्थिडा कित्ती॥
धम्मो मगलमउलं, ओसहमउल च सव्वदुक्ख ण।
धम्मो बलमवि विउल, धम्मो ताणं च सरण च॥
किं जंपिएण बहुणा, जं जं दीसइ समत्थजियलोए।
इन्दियमणाभिरामं, तं तं धम्मप्फल सव्व॥
भीमम्मि मरण काले, मोत्तूण दुक्खसंविढत्त पि।
अत्थं देहं सयण धम्मो च्चिय होइ सुसहायो॥

धर्म से उत्तम कुल में जन्म होता है धर्म के प्रताप से दिव्य रूप की प्राप्ति होती है, धर्म से ही धन और वैभव मिलत है, और धर्म से ही सर्वत्र व्यापिनी कीर्त्ति प्राप्त होती है।

धर्म से जिस मंगल की प्राप्ति होती है, वह अन्य किसी से भी नहीं हो सकती। धर्म समस्त आन्तरिक और बाह्य रोगों की अनुपम औषध है। धर्म ही संसार में असाधारण बल है। धर्म ही त्राण है, धर्म ही शरण है।

अधिक क्या कहा जाय, सम्पूर्ण जीव लोक मे इन्द्रियो को और मन को प्रिय लगने वाली जो-जो वस्तुएँ है, वह सब धर्म का ही फल हैं।

भयानक मरण-काल में मनुष्य अत्यन्त कष्ट से उपार्जित धन-सम्पत्ति को, देह को और आत्मीय जनों को त्याग कर जाता है, तब एक मात्र धर्म ही उसका सहायक होता है।

हे भद्र! धर्म की यह महिमा है। धर्म से ही दुखों का विनाश होता है। धन और परिवार सभी यहीं रह जाएँगे, उपार्जित किया धर्म ही साथ में जायगा। जिसने पूर्व में धर्म का आचरण नहीं किया, वह इस भव में दीन, दरिद्र और दुःखी देखा जाता है। जो धर्म को साथ लेकर आया है, वह इस भव में भी देवोपम सुखो को भोगता है और भव के अन्त में स्वर्ग या मोक्ष का भागी होता है। जो पूर्ण धर्म को अङ्गीकार करता है, वह मोक्ष पाता है और जो एक देश धर्म (श्रावकधर्म) को स्वीकार करता है, वह स्वर्ग पाता है। स्वर्ग से चय कर वह जीव क्रमशः संयम का आराधन करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

धर्मात्मा मनुष्य का व्यवहार इतनो न्याय-संगत हो जाता है कि वह कभो कुमार्ग में नहीं जा सकता। राजा या

पंचों को दंड देने का अवसर नहीं मिलता। वह सारे संसार का प्यारा बन जाता है। उसे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है। वह शान्ति और सन्तोष के अमृत का पान करता है।

जिस धर्म का यह स्वरूप बतलाया गया है, उसके मूल दो भेद हैं:—(१) सम्यक्त्वधर्म और (२) चारित्रधर्म।

शंका, कांक्षा आदि दोषों से दूर रह कर सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर निश्चल श्रद्धा रखना सम्यक्त्वधर्म है। सम्यक्त्वधर्म, चारित्रधर्म की नींव है। जैसे नींव के बिना मकान नहीं टिकता, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में चारित्रधर्म नहीं रह सकता। अतएव सम्यक्त्व को मोक्ष-महल की पहली सीढ़ी कहा गया है। जिसमें सम्यक्त्वधर्म का आविर्भाव हो जाता है, वह वीतराग सर्वज्ञ देव पर, पंचमहाव्रतधारी निर्ग्रंथ गुरुओं पर, दयामय धर्म पर और वीतराग की वाणी पर श्रद्धा रखता है और रागी द्वेषी देवों, कुगुरुओं, और हिंसामय धर्म पर कभी श्रद्धा नहीं कर सकता। उसका अन्तस्तल शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य से परिपूर्ण हो जाता है। ऐसा सम्यक्त्वधर्मी ही चारित्रधर्म को पालने की पात्रता प्राप्त करता है। अतएव आत्म-कल्याण के अभिलाषी का प्रथम कर्त्तव्य अपनी श्रद्धा को निर्मल और प्रगाढ़ बनाना है।

सम्यक्त्व धर्म के पश्चात् होने वाला चारित्रधर्म अधिकारी भेद से दो प्रकार का है:—(१) साधु-आचारधर्म और (२) श्रावकाचारधर्म। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत को मन, वचन, काय से, पूर्ण रूप से

पालना साधु का आचार धर्म है । इस धर्म के अन्तर्गत और भी बहुत सी बातें हैं, जिनका यहाँ विस्तारभय से उल्लेख नहीं किया जा सकता जैसे—पाँच समितियों का पालन करना, तीन गुप्तियों का पालन करना, आदि आदि ।

श्रावकाचार धर्म बारह प्रकार का है। इसमे पूर्वोक्त पाँच व्रत भी सम्मिलित हैं, किन्तु श्रावक उनका अपनी सामर्थ्य के अनुसार आंशिक रूप से पालन करता है। यह पाँच अणुव्रत कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत होते हैं। यही सब मिल कर श्रावक के बारह व्रत हैं। श्रावक-धर्म में भी अनेक बातें हैं, जिनका इन व्रतो के साथ पालन करना आवश्यक है। जैसे-प्रतिदिन सामायिक आदि षड़ावश्यक कियाओं का करना आदि ।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह है कि श्रावक धर्म का सम्यक् प्रकार से परिपालन करने क लिये गृहस्थ को पात्रता प्राप्त करनी चाहिए। जैसे सिंहनी का दूध सुवर्ण के पात्र में ही टिकता है, उसी प्रकार गृहस्थधर्म भी पात्र मे ही टिकता है, अपात्र मे नहीं ।

प्रश्न हो सकता है कि श्रावकधर्म की पात्रता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निम्नलिखित गुणों को धारण करने से पात्रता आती है:—

(१) न्याय-नीति से धन उपार्जन करे ।

(२) शिष्ट पुरुषों के आचार विचार को अच्छा समझे, उनकी प्रशंसा करे ।

++++++++++++++++++++++++++++++++++++

(३) अपने कुल और शील में समान, किन्तु भिन्न गोत्र वालों के साथ विवाह-सम्बन्ध करे।

(४) पाप-भीरु हो।

(५) प्रसिद्ध देशाचार का पालन करे, अर्थात् देश की रीतियों का अनुसरण करे, किन्तु ऐसा करते समय धर्म में बाधा न उपस्थित होने दे।

(६) किसी की और विशेष रूप से राजा आदि की निन्दा न करे।

(७) सोच समझकर उचित स्थान पर निवास करे।

(८) घर में, बाहर निकलने के अनेक द्वार न हों।

(९) सदाचारी पुरुषों की संगति करे।

(१०) माता-पिता की सेवा भक्ति करे।

(११) रगड़े-झगड़े और बखेड़े पैदा करने वाली जगह से दूर रहे, ऐसे स्थान में न रहे जहाँ चित्त में क्षोभ उत्पन्न हो।

(१२ कोई भी निन्दनीय काम न करे।

(१३) आमद के अनुसार खर्च करे-ज्यादा खर्च करेगा तो अनीति करेगा।

(१४) अपनी हैसियत के अनुरूप वेष-भूषा धारण करे।

(१५) प्रतिदिन धर्म का श्रवण करे।

(१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करे।

(१७) नियत समय पर शान्ति एवं सन्तोष के साथ भोजन करे।

(१८) धर्म के साथ अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करे कि कोई किसी का बाधक न बने।

(१९) अतिथियों का, साधु-सन्तों का दीन-असहाय जनों का यथायोग्य सत्कार करे।

(२०) कभी दुराग्रह के वशीभूत न हो।

(२१) गुणों का पक्षपाती हो-जहाँ गुण दिखलाई दें, उन्हें ग्रहण करे और उनकी प्रशंसा करे।

(२२) देश और काल के विरुद्ध आचरण न करे।

(२३) अपनी शक्ति-अशक्ति को समझे। अपनी सामर्थ्य का विचार करके किसी काम में हाथ डाले, अन्यथा नहीं।

(२४) सदाचारी पुरुषों की तथा अपने से अधिक ज्ञानवान् पुरुषों की विनय-भक्ति, सेवा-सहायता करे।

(२५) जिनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोषण करे।

(२६) दीर्घदृष्टि हो-आगे-पीछे का विचार करके कार्य करे।

(२७) अपने हित-अहित को समझे।

(२८) कृतज्ञ हो, कृतघ्नता कदापि न करे।

(२९) लोकप्रिय हो; अर्थात् अपने सदाचार एवं सेवाकार्य द्वारा जनता का प्रेम सम्पादन करे।

(३०) लज्जाशील हो; अनुचित कार्य करने में लज्जित हो।

(३१) दयालु हो।

(३२) सौम्य हो; चेहरे पर शान्ति झलकती हो।

(३३) परोपकारपरायण हो।

(३४) काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आन्तरिक शत्रुओं को जीतने में उद्यत हो।

(३५) इन्द्रियों को वश में रक्खे।

जैसे बीज बोने से पहले क्षेत्र शुद्धि कर ली जाती है और दीवाल खड़ी करने से पहले नींव मज़बूत कर ली जाती है, उसी प्रकार गृहस्थधर्म को धारण करने से पहले आवश्यक जीवन-शुद्धि कर लेना उचित है। यहाँ जो गुण बतलाये गये हैं, वे मार्गानुसारी के ३५ गुण कहलाते हैं। इन गुणों की आधार-भूमिका पर गृहस्थधर्म का जो भव्य प्रासाद खड़ा किया जाता है, वही स्थायी होता है।

इन गुणों में कई ऐसे हैं, जिनका संबंध व्यावहारिक जीवन के साथ है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जिसका व्यावहारिक जीवन पतित और गया-बीता होता है, उसका धार्मिक जीवन उच्चश्रेणी का नहीं हो सकता। अतएव व्रतमय जीवन यापन करने के लिए व्यावहारिक जीवन को उच्च बनाना आवश्यक है। जब व्यवहार में पवित्रता आती है, तभी जीवन धर्म-साधना का पात्र बनता है।

इस प्रकार धर्मोपदेश करके अन्त में ऋषिराज बोले—वत्स ! कल्याण का जो मार्ग है, वह मैंने तुम्हें बतलाया है। उस मार्ग पर चलना तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। चलोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।

जिनदास और धर्मचंद्र यह उपदेश सुनकर अतिशय हर्षित हुए। जिनदास ने कहा—'जिंदगी में आज अपूर्व वस्तु मेरे हाथ लगी। इसका श्रेय मेरे सन्मित्र धर्मचंद्र को है। मेरा भाग्य धन्य है जो आप जैसे निर्लोभी गुरु प्राप्त हुए। प्रभो! आपके वचन सत्य हैं। इनके अनुसार चलने में ही मेरा हित है। आप मेरे सच्चे हितैषी हैं। अनुग्रह करके मुझे सम्यक्त्व-धर्म प्रदान कीजिए।'

मुनिराज ने सच्चे देव, गुरु और धर्म की श्रद्धा धारण कराई। जिनदास कुमार णमोकार मंत्र, आवश्यक धर्मध्यान मुनिराज से सीखने लगा।

८
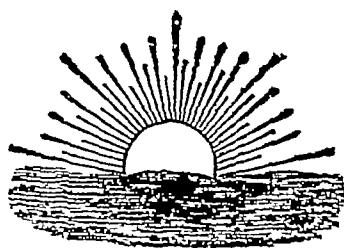
अभ्युदय का बीज
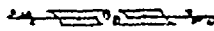
जिनदास के प्रबल पुण्य का ऐसा योग था कि एक बार के धर्मोपदेश से ही उसका अन्त करण धर्म के पक्के रंग में रंग गया। वह मुनिराज के पास नित्य आता था और नित्य नया ज्ञानाभ्यास करता था। उसकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। उसने थोड़े ही समय में धर्मशास्त्र का बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लिया। नौ तत्त्वों की, पच्चीस क्रियाओं की, षट् द्रव्यों की, नय-निक्षेप आदि की, कर्म सिद्धान्त और स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों की उसे गहरी जानकारी हो गई। धर्म शास्त्र का अभ्यास करने की उसकी रुचि इतनी प्रबल थी कि कई बार वह शाला में जाने का बहाना करके स्थानक में जा पहुँचता और धर्मशास्त्र सीखा करता था।

एक दिन मुनिराज व्याख्यान बांच रहे थे। छह द्रव्यों की प्ररूपणा का अधिकार चल रहा था। जिनदास ने बीच-बीच में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये। उसके प्रश्नों के उत्तरों से व्याख्यान सभा में सूक्ष्म ज्ञान भी बादर रूप में परिणत हो

गया। जो बातें श्रोताओं को स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आई थीं, वह भी स्पष्ट हो गई।

सारी सभा बालक जिनदास की सूक्ष्म बुद्धि, प्रगाढ़ जिज्ञासा और धर्म-रुचि देख कर विस्मित हो गई। सब लोग उसकी ओर देखने लगे। लोग मन ही मन कहने लगे-इस बालक के माता-पिता धन्य हैं, जिन्होंने इस रत्न को जन्म दिया है! इतनी छोटी उम्र में इतना गहरा धर्मज्ञान है इसका! आगे चल कर यह अवश्य ही धर्म का उद्योत करेगा। कहा है:—

स एव रम्यः पुत्रो, यो कुलमेव न केवलम्।
पितुः कीर्त्तिश्च धर्मश्च, गुणांश्चापि विवर्धयेत्॥

अर्थात् - वह पुत्र रमणीय है, जो न केवल अपने कुल की, बल्कि अपने माता-पिता की कीर्त्ति की वृद्धि करे, धर्म की वृद्धि करे और सद्गुणों की वृद्धि करे।

व्याख्यान समाप्त होने पर सब श्रोता अपने-अपने घर चले गये। उनके जाने के पश्चात् जिनदास भी सामायिक पार करके घर की ओर चला। जिनदास के प्रति श्रावकों की ऐसी प्रीति हो गई थी कि राह चलते सब खड़े हो हो कर उसका सत्कार करते थे।

नगरसेठ श्रीपति के मन में किसी बोल के विषय में शंका थी। जिनदास को जाते देख वह अपनी दुकान से उठकर उसके सामने आये। सत्कार पूर्वक उसे अपनी दुकान पर ले गये और

शंका-समाधान करने लगे। इसी अवसर पर किसी कार्यवश जावड़कुमार वहाँ आ पहुँचा। नगर सेठ ने उससे कहा--'अभी मुझे फुर्सत नहीं है, फिर आना। अभी तो यह भाई साहब आये हैं। इनके साथ धर्मचर्चा करेंगे।'

सेठजी का यह उत्तर सुन कर जावड़कुमार के मन में ईर्षा की तीव्र आग प्रज्वलित हो उठी। यद्यपि अपने लघुभ्राता का इतना आदर-सत्कार देख कर उसे प्रसन्न होना चाहिए था, मगर पाप कर्म के उदय से उसे आनन्द के बदले डाह हुई। वह सोचने लगा—इसका इतना सन्मान और मेरा इतना अपमान! जिनदास इन मुँहवधों के चाले लग गया है—इनके फंदे में फँस गया है! किसी दिन यह बाबा बन कर माँगता-खाता फिरेगा!

इस प्रकार बड़बड़ाता हुआ जावड़कुमार सोहन साह के पास आया। उनसे कहने लगा—'आप जिनदास को रोकते क्यों नहीं? वह साधु के फंदे में पड़ गया है। पढ़ना-लिखना सब छोड़ बैठा है। सब लोग उसके पीछे लग गये हैं। समय पर सावधान न हुए और उस पर अंकुश न रक्खा तो थोड़े ही दिनों में वह साधु बन जायगा और आपके कुल को लजाएगा।'

जावड़कुमार को ईर्षा और द्वेष ने घेर लिया था। ईर्षा की आग से संतप्त होकर वह विवेकहीन बन रहा था। सच है, ईर्षालु मनुष्य आँख रहते भी अन्धा बन जाता है। वह अनेक अनर्थ कर गुज़रता है, जिनका परिणाम आगे चल कर बड़ा भयानक होता है। कहा भी है:--

श्रीद्वीपायनतापसेन महती प्रज्वालिता द्वारिका,
द्वेषादेव च वर्द्धमाननगरे श्रीशूलपाणिरभूत ।
मारी येन विमोचिता च सहसा लोकाश्च दुःखीकृताः,
तस्मात्सोऽत्र विमुच्यतामिति जिनैर्व्याख्यायि संघेऽनघे ॥

द्वीपायन तापस द्वेष के वश हुए तो उन्होंने द्वारिका जैसी विशाल नगरी को भी भस्म करने में संकोच नहीं किया। फिर वर्द्धमान नामक नगर में शूलपाणि ने यक्ष होकर महामारी फैलाई और जनता को दुखी किया। अतएव द्वेष से दूर रहना ही उचित है। यह जिनदेव का उपदेश है।

हाँ, तो जावड़कुमार के द्वेष प्रेरित वचन सुन कर सोहन सेठ ने कहा--जिनदास को मैं तुमसे अधिक जानता हूँ। वह अतिशय पुण्यशाली है। वह कदापि कोई अनुचित कार्य नहीं कर सकता।

जावड़--आपका यह अन्धा प्रेम आपको और उसको भी ले डूबेगा पीछे पछताना पड़ेगा !

सोहन सेठ--रहने दे बेटा, मैं सब समझता हूँ। उसी के पुण्यप्रताप से यह सब सम्पदा है। उसी के पुण्य से तुम सब मौज कर रहे हो। भूल गये क्या कि पहले अपनी क्या दशा थी? उसके शुभोदय से ही हमारे दिन फिरे हैं। उसे लांछन लगाना वृथा है।

पिता के यह वचन सुन कर जावड़कुमार मन ही मन खिसिया गया। उसने आँखें तरेर कर और ललाट पर बल

डाल कर कहा—अच्छी बात है, मुझे क्या करना है! आपका लाड़ला बेटा ठहरा, चाहे सुधारो, चाहे बिगाड़ो।

यह कह कर जावड़ गया ही था कि जिनदास पिता के पास आया। आते ही उसने पिताजी के चरणों का स्पर्श किया। पिता ने पुचकार कर और आशीर्वाद देकर उसे अपने पास बिठलाया। फिर मधुर स्वर मे पूछा—बेटा, कहाँ से आ रहे हो? पढ़ाई-लिखाई का क्या हाल है? किस मार्ग पर चलना आरम्भ किया है?

जिनदास ने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक कहा—पिताजी, आपके पुण्यप्रसाद से मुझे सद्गुरु मिल गये हैं। वे इसी नगर मे स्थिर वास करके रहते है। उनका मैं ने समागम किया। गुरुदेव ने मुझ पर अनुग्रह करके जगत् का यथार्थ स्वरूप समझाया है। जड़ चेतन का विवेक कराया है और बतलाया है कि मोह-माया विकट अन्धकूप है, जिसमे पड़ कर मनुष्य अनेक प्रकार की घोर व्यथाएँ भोगता है। जो धर्म-मार्ग को जान लेता है, वह इस भव मे अपने कुल को उज्ज्वल बनाता है, कभी अनीति के पथ पर नहीं जाता, परिवार मे एकता रखता है और विनम्रतापूर्ण व्यवहार करता है। आगामी भव में धर्म ही स्वर्ग और मोक्ष का दाता है। ऐसा समझ कर मैं ने धर्म को अङ्गीकार किया है। संसार की समस्त कलाएँ दुःख देने वाली है, केवल धर्मकला ही सुखदायी है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है:—

सव्वा कला धम्मकला जिणइ।

अर्थात्—धर्मकला सभी कलाओं को जीत लेती है। और भी कहा है:—

धर्मो दुःखदवानलस्य जलदः सौख्यैकचिन्तामणिः,
धर्मः शोकमहोरगस्य गरुडो धर्मो विपत्त्रायकः।
धर्मः प्रौढपदप्रदर्शनपटुः, धर्मोऽद्वितीयः सखा,
धर्मो जन्मजरामृतिक्षयकरो धर्मो हि मोक्षप्रदः॥

अर्थात्—धर्म, दुःख रूपी दावानल को शान्त करने के लिए मेघ के समान है, सकल सुख देने वाला चिन्तामणि रत्न के समान है, शोक रूपी भयानक सर्प के लिए गरुड़ पक्षी के समान है, धर्म विपत्ति से बचाने वाला है, धर्म से उच्च से उच्च पदों की प्राप्ति होती है, धर्म संसार में एक मात्र मित्र है, धर्म से ही जन्म जरा मरण का क्षय होता है और धर्म ही मोक्ष प्रदान करता है।

इस प्रकार जिनदास ने अपने पिताजी के सामने सब बातें खोल कर रख दीं। इस विवरण में उनके सभी प्रश्नों का उत्तर आ गया।

जिनदास की बात सुन कर सोहन साहू को अत्यन्त आमोद हुआ। सोहन सेठ यद्यपि जैनधर्म के अनुयायी नहीं थे, तथापि एक बार जैन मुनि के सम्पर्क में आये थे, अतएव उनके चित्त में जैन मुनियों और जैनधर्म के प्रति आदर का भाव विद्यमान था। अपने पुत्र को जैनधर्म में अनुरक्त देख कर

उन्हें प्रसन्नता ही हुई। उन्होंने जिनदास से कहा—बेटा, तुम पुण्यवान् हो और समझदार हो। मुनि के पास जाते हो, अच्छी बात है। धर्म को सीखो और धर्मोपदेश सुनो। चलना तो मैं भी चाहता हूँ, पर क्या करूँ! बाल पक गये हैं। आज तक कभी स्थानक को आँखों नहीं देखा। अब वहाँ जाने में लाज लगती है। लोग मेरा उपहास करेंगे। यह सोच कर मैं नहीं जा सकता। फिर भी इतना करना कि तू प्रतिदिन वहाँ जो सुने, मुझे आकर कह दिया कर। मैं तेरे कथनानुसार घर में बैठ कर ही धर्म ध्यान करूँगा!

पिता के मुख से अपने आचरण का समर्थन सुन कर जिनदास को बड़ा आनन्द हुआ वह सोचने लगा—मेरा सारा परिवार अगर धर्मनिष्ठ बन जाय तो कितना उपकार हो।

अब जिनदास के सामने किसी बाधा की आशंका नहीं रही। वह निश्चिन्त भाव से धर्म ध्यान करने लगा। मुनिराज के मुखारविन्द से जो भी सुनता, पिताजी को प्रति दिन सुना देता था। पिताजी को सुनाने के विचार से वह मुनिराज का उपदेश और अधिक ध्यान पूर्वक सुनने लगा।

६

पाणिग्रहण

नगर सेठ श्रीपति, अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्री के साथ बैठ कर धर्म-चर्चा कर रहे थे। चर्चा के प्रसंग में जिनदास की बात निकल पड़ी। जिनदास के गुणों का सौरभ सर्वत्र व्याप्त हो चुका था। वह थोड़ी-सी उम्र में ही नगर में विख्यात हो चुका था। धार्मिक जनता में अग्रगण्य बन गया था। श्रीपति सेठ भी उससे प्रभावित थे। उन्होंने धर्मचन्द्र से पूछा—बेटा, तुम्हारा अनन्य मित्र जिनदास किसका लड़का है? वह लघु वय में ही धर्म के रंग में रंग गया है। उसका धर्म शास्त्र का ज्ञान भी अद्भुत है। अगर जाति-पांति मेल खा जाय तो पुत्री सुगुणी की जोड़ी बड़ी अच्छी मिल जाय! गुणों से तो जिनदास सुगुणी के योग्य है और सुगुणी जिनदास के योग्य है!

धर्मचन्द्र को पिताजी की अभिलाषा जान कर प्रसन्नता हुई। उसने कहा—पिताजी, आप जिनदास को नहीं जानते? वह सोहन शाह के सुपुत्र हैं। उनकी जाति ऊँची है, कुल भी उत्तम है। घर में बड़ा परिवार भी है। मैं समझता हूँ, ऐसा

सोचता है ! इस प्रकार सत्पुरुष आत्मीयजनों के मिलने पर सभी प्रकार से अपनी सद्भावना व्यक्त करता है।

सोहन सेठ ने भी इसी प्रकार समागत सज्जनों का सत्कार किया। सोहन सेठ के प्रश्न के उत्तर में मुनीमजी ने कहा—नगरसेठ श्रीपति की विचक्षणा और सुलक्षणा पुत्री सुगुणी है। 'यथा नाम तथा गुणाः' की उक्ति चरितार्थ करती है। आपके पुत्र जिनदास के साथ उसका संबंध करने की इच्छा से सेठजी ने आपकी सेवा में हमें भेजा है। रीति-रिवाज, नेग-चार आदि सब आपकी इच्छा के अनुसार किये जाएंगे।

मुनीम का प्रस्ताव सुनकर सोहन सेठ को असीम प्रसन्नता हुई। वह मन ही मन सोचने लगे—मेरा बेटा वास्तव में बड़ा पुण्यशाली है। बड़े घर में उसका सम्बन्ध हो रहा है। इस संबंध से जिनदास का खूब महत्त्व बढ़ जाएगा।

किन्तु प्रकट में वह बोले—मुनीमजी, विवाह-सम्बन्ध समान हैसियत वालों में सोहता है। नगरसेठ क्या प्रतिष्ठा में और क्या सम्पत्ति में, बड़े हैं। मैं उनकी तुलना में गरीब आदमी हूँ। हम दोनों का रिश्ता कैसे निभेगा ?

मुनीमजी—यह कहना ही आपके बड़प्पन का द्योतक है। फिर विवाह-संबंध धन के साथ नहीं, जन के साथ किया जाता है। मनुष्य सुपात्र होना चाहिए। धन का क्या है ! वह तो आना-जाता रहता है।

आखिर शुभ घड़ी में जिनदास और सुगुणी का सगाई-

सम्बन्ध हो गया। मिष्टान्न बाँटा गया। कुल की रीति के अनुसार सब आचार किया गया। शुभ मुहूर्त्त निकलवा कर विवाह की तिथि निश्चित कर ली गई। दोनों घरों में महोत्सव आरंभ हो गया। मङ्गल-वाद्य बजने लगे। विवाह का नियत समय आने पर धूमधाम से पाणिग्रहण हुआ। दोनों पक्षों के स्वजन सबंधी एकत्र हुए। सब का भोजन, वस्त्र आदि से यथायोग्य स्वागत किया गया। श्रीपति सेठ ने अपनी हैसियत के अनुसार दहेज़ दिया, जिसमें हिरण्य, सुवर्ण, दास, दासी, वस्त्र, चतुष्पद आदि सभी कुछ सम्मिलित था।

जिनदास और सुगुणी की जोड़ी अनूठी थी। जिसने इस जोड़ी को देखा उसी ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की। लोग कहने लगे—दोनों एक दूसरे के अनुरूप हैं। जिनदास सुगुणी (सद्-गुणवान्) है और सुगुणी जिनदास (जिन भगवान् की भक्त) है। दोनों धर्मनिष्ठ हैं। इनका स्नेह अखंड रहेगा।

विवाह के पश्चात् विदाई का समय आया। तब सुगुणी की माता का हृदय भर आया। उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। रुद्ध स्वर से उसने सुगुणी से कहा—बेटी! तुझे सीख देने की आवश्यकता नहीं। तू स्वयं विवेकवती है, गुणवती है। फिर भी अब तू नवीन जीवन में और नवीन कुल में प्रवेश कर रही है, अतएव अपने जीवन को परिस्थितियों के अनुसार नवीन सांचे में ढालना और यह स्मरण रखना:—

निर्व्याजा दयिते ननांदषु नता श्वश्रूषु भक्ता भवेः,
स्निग्धा बन्धुषु वत्सला परिजने स्मेरा सपत्नीष्वपि ।
पत्युर्मित्रजने विनम्रवचना रुष्टा च तद्द्वेषिषु,
स्त्रीणां सवननं तदद्भुतमिदं वीतोपधं भर्तृषु ॥

सच्ची सद्गृहिणी वही है जो अपने पति के साथ छल-कपट न करे, जो अपनी ननदों के सामने नम्र होकर रहे, सासुओं की भक्ति करे, बन्धुजनों के प्रति स्नेहशील हो, नौकरों-चाकरों पर प्रेम रक्खे और अपनी सौतों पर भी ईर्षा-द्वेष न करे। जो अपने पति के मित्रों से नम्रतापूर्ण भाषण करे और पति के द्वेषियों पर रुष्ट रहे। यही सब स्त्रियों के सच्चे आभूषण हैं।

१०

सुगुणी का धर्मसंकट

अपनी नव विवाहिता पत्नी को लेकर जिनदास घर आ गये। पुण्य के प्रभाव से धर्मनिष्ठ नर-नारी का सुन्दर सुयोग मिला था। परन्तु सुगुणी ने सुसराल में आकर जो कुछ देखा, उससे उसके कोमल हृदय को बड़ा आघात लगा। उसने देखा कि इस घर में कहीं भी जैनत्व की झलक नहीं दिखाई देती। यहाँ का आचार-व्यवहार सब जैनधर्म से विपरीत है। जैनी के घर में परडे पर, चूल्हे पर और चक्की पर चदोवा होता है, जिससे कोई जीव-जन्तु सहसा गिर कर मर न जाय। किन्तु यहाँ कहीं भी चदोवा नहीं है! पानी छानने को छन्ना भी नज़र नहीं आता। कंदमूल पकाये-खाये जाते हैं। आटा दाल आदि भोजन-सामग्री देखभाल कर काम में नहीं ली जाती। रात्रि में चक्की चलाई जाती है। पर्वतिथि के दिन भी हरा शाक खाया जाता है। त्रसजीवों की यतना नहीं की जाती और रात्रि में भोजन किया जाता है। इस घर के लोग सो कर उठते ही अपने-अपने धंधे में लग जाते हैं—कोई णमोकारमंत्र भी नहीं पढ़ता। प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि:—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत्, परमेष्ठिस्तुतिं पठन्।
किंधर्मा किंकुलश्चास्मि, किंव्रतोऽस्मीति च स्मरन्॥

ब्राह्म मुहूर्त्त में अर्थात् पौ फटने से पहले ही शय्या त्याग देनी चाहिए। पंचपरमेष्ठी की स्तुति का पाठ करना चाहिए और फिर यह सोचना चाहिए कि मेरा धर्म क्या है? मेरा कुल क्या है-मेरे कुल का आधार कैसा है? मैं ने आत्मकल्याण के लिए क्या-क्या व्रत ग्रहण किये हैं?

परन्तु इस घर में ऐसी कोई बात दृष्टिगोचर नहीं होती। यहाँ तो सभी कुकर्मी-मिथ्यात्वी ही नजर आते हैं। इस धर्म-हीन घर में मुझसे कैसे रहा जाएगा?

इस प्रकार धर्मनिष्ठ सुगुणी के चित्त में न जाने कितने विचार उठते रहे। उसका मन अत्यन्त उदास हो गया। पीड़ा का अनुभव करने लगा। उसे पल भर भी नहीं सुहाता था।

सुगुणी फिर सोचने लगी--मैंने अपने धर्म की रक्षा के लिए, लज्जा का परित्याग करके भी, पहले ही पिताजी से कह दिया था कि मिथ्यात्वी के साथ मेरा सम्बन्ध न कीजिएगा। मगर--

लिखितमपि ललाटे प्रोञ्छितुं कः समर्थः।

अर्थात्--भाग्य में लिखे को कोई टाल नहीं सकता।

यह सब मेरे ही कर्मों का दोष है। मेरे दुर्भाग्य ने मुझे गड्ढे में गिरा दिया। यहाँ मेरे आचार-विचार की रक्षा होना

असंभव है। सचमुच कर्मों की गति अद्भुत है। इनके प्रभाव से बड़े-बड़े भी नहीं बचे तो मेरी क्या चलाई ? मैं किस विसात में हूं। यथार्थ ही कहा है:—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो, ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥

कर्म की उस शक्ति को नमस्कार है, जिसने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड रूप भांडे गढ़ने के काम में कुंभार की तरह लगाया, जिसने विष्णु को दस अवतार लेने के सकट में पटका, जिसने महादेव को खोपड़ी में भिक्षा लेने को विवश किया, जो सूर्य को प्रतिदिन आकाश मे घुमाती रहती है!

दुनिया में देव समझे जाने वाले ब्रह्मा आदि ही जब कर्मों के चक्र से न बच सके तो मैं क्या चीज़ हूँ! अवश्य ही मैंने पहले अठारह पापों का सेवन किया होगा, जिनके उदय से मुझे इस परिस्थिति में पड़ना पड़ा है!

सुगुणी सोचती है—मगर आश्चर्य तो यह है कि प्रत्यक्ष देखी बात भी झूठी सिद्ध हो रही है! इसमें पिताजी का क्या दोष है ? मैंने स्वयं देखा था कि जिनदासजी प्रतिदिन स्थानक मे आते थे। बहुत धर्मज्ञ जान पड़ते थे। सबसे आगे बैठते थे। प्रश्नोत्तर करते थे। यतनापूर्वक चलते थे। उनकी यह धार्मिकता

देख कर ही पिताजी ने यह संबंध किया है। मैंने स्वयं इस संबंध को इष्ट माना था।

मेरे पतिदेव की भक्ति क्या सच्ची थी ? उसमें कोई कपट तो नहीं था ? मैं अभागिनी हूँ कि मुझे पति पर अश्रद्धा हो रही है। मगर दूसरा विकल्प क्या है ? वे सच्चे धार्मिक होते तो इस घर में निर्वाह कैसे कर लेते ? क्या मैं सचमुच मायाचार का शिकार हो गई हूँ ? सती सुभद्रा भी ठगाई में आ गई थी। चलो, आज से वही सती मेरे जीवन का आदर्श होगी। एक बार फिर सुभद्रा सती के इतिहास की आवृत्ति करूँगी।

मगर पहला प्रश्न खान-पान का है। खोटा अन्न खाने से मन भी खोटा बन जाता है। कहावत है-जैसा पीवे पानी, वैसी बोले बानी। कहा भी है:—

दीपो भक्षयते ध्वान्तं, कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयेन्नित्यं, जायते तादृशी प्रजा॥

देखिए न, दीपक काले-काले अन्धकार का भक्षण करता है तो काला-काला काजल ही उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जैसा अन्न भक्षण किया जाता है वैसी ही संतान उत्पन्न होती है।

विना यतना तैयार हुए भोजन का मुझे त्याग है। अनछुना पानी पीने का भी मैंने त्याग किया है। ऐसी दशा में मैं कैसे रह सकती हूँ ?

तो क्या सांसारिक सम्बन्ध का निर्वाह करने के लिए

धर्म का परित्याग करना पड़ेगा ? मगर यह असंभव है। सांसारिक सम्बन्ध तो अनन्त वार हो चुके हैं। धर्म कव मिलता है ? दुर्लभ धर्म की रक्षा करनी ही होगी।

एक न एक दिन मरना तो होगा ही। इस पृथ्वी पर कोई अमर नहीं रहा और न रहेगा। फिर धर्म को खण्डित करके जीवित रहने से क्या लाभ ? धर्म का परित्याग करके जीना तो मरने से भी बुरा है। मैं धर्म के विना पति का साहचर्य भी नहीं चाहती। कुछ भी हो, मैं धर्म का परित्याग नहीं करूँगी, नहीं करूँगी।

मैं इस घर का अविधिपूर्वक निष्पन्न किया गया भोजन-पानी भी ग्रहण करने में असमर्थ हूँ। अपनी धार्मिका दासी से मँगवा कर पानी पीऊँगी और माता-पिता के घर से लाया हुआ भोजन ही ग्रहण करूँगी। समझाने-बुझाने से यहाँ की व्यवस्था धर्मानुकूल हो गई तो ठीक, अन्यथा अपने मायके में ही रहूंगी।

सुगुणी इस प्रकार संकल्प करके निश्चिन्त हो गई। उसने अपना कार्यक्रम और भविष्य निश्चित कर लिया।

× × × ×

भोजन का समय हो गया। सास और जेठानी ने आकर सुगुणी को भोजन के लिए अनुरोध किया, खूब-खूब आग्रह भी किया, परन्तु वह भोजन करने को तैयार न हुई। वास्तव में सुगुणी बड़े ही धर्मसंकट में पड़ी थी। वह कोई उद्दण्ड

बालिका नहीं थी कि बड़ों की आज्ञा का उल्लंघन करे। वह सास और जेठानी के आदेश को शिरोधार्य करना अपना कर्त्तव्य समझती थी। किन्तु धर्मरक्षा को सर्वोपरि मानती थी। अतएव उसने जब सास के अनुरोध को स्वीकार न किया तो उसे अत्यन्त मनोवेदना हुई। फिर भी वह विवश थी और अपने आपको ही कोस रही थी।

उस दिन सुगुणी ने अपने मायके से भोजन-पानी मँगवाया और आर्त्तध्यान में पड़ी रही।

सास-ससुर सुगुणी का व्यवहार देख कर चिन्तित थे। उन्हें असली कारण का पता नहीं था। अतएव वह सोचने लगे—बड़े घर की बेटी है। इसे अपने यहाँ सुहाता नहीं होगा। यहाँ का भोजन रुचता नहीं होगा। इसी कारण ऐसा कर रही है। धीरे-धीरे ठिकाने आ जाएगी।

फिर भी सास का हृदय माना नहीं। वह कुछ बूढ़ी—सयानी महिलाओं को साथ लेकर सुगुणी के पास आई और बोली—बहू रानी ! क्या बात है, जरा खोल कर कहो। यह ठीक है कि तू बड़े श्रीमन्त की बेटी है; मगर तेरी जिन्दगी इसी घर में पूरी होगी। इस तरह करेगी तो कैसे निभेगा ? मन की बात साफ-साफ कह दे। तेरे सुख के लिए हम कुछ उठा नहीं रक्खेंगे।

सुगुणी ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—सासूजी, मेरी धृष्टता के लिए क्षमा कीजिए। आपका अथवा इस घर का

अपमान करने की लेश मात्र भी मेरी इच्छा नहीं है। मगर मैं धर्मसंकट में पड़ गई हूँ। मुझे आपके सामने इस प्रकार कहना नहीं चाहिए, तथापि परिस्थितिवश कहने को वाध्य हूँ। आप जैन हैं, फिर मिथ्यात्वियों जैसा व्यवहार इस घर में क्यों हो रहा है? माताजी, आप जानती हैं कि यह जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता-भटकता इस स्थिति में पहुँचा है। प्रवल पुण्य के योग से यह उत्तम सामग्री मिली है। आर्यक्षेत्र मिला, उत्तम कुल मिला और जैन धर्म की प्राप्ति हुई। फिर ऐसा मिथ्याचार क्यों? आपके यहाँ अनछना पानी काम में आता है, कन्दमूल खाये जाते हैं, चदोवा नहीं बँधे हैं, रात्रिभोजन होता है, रात्रि में चक्की चलाई जाती है, भोजन-सामग्री की देखभाल नहीं की जाती ऐसी स्थिति में मेरा धर्म यहाँ नहीं निभ सकता। मेरा अनुरोध है कि आप इन सब बातों में संशोधन करें। ऐसा करने से आप सब का भी हित होगा और मैं भी सुखपूर्वक इस घर में रह सकूंगी।

माताजी! विना छना पानी पीने से अनेक हानियाँ होती हैं। कूड़ा-कचरा बाल आदि पेट में चला जाता है तो अत्यन्त हानि पहुँचाता है। पानी में अनेक त्रस जीव भी रहते हैं। उनकी हिंसा होती है, अतएव नरक में जाना पड़ता है। इस तरह इस भव में भी हानि और परभव में भी हानि! कहा है—

ग्रामाणां सप्तके दग्धे, यत्पापं समुत्पद्यते।
तत्पापं जायते पार्थ! जलस्यागलिते घटे॥

हे अर्जुन! सात गाँव जलाने से जितना पाप लगता है,

उतना पाप बिना छना पानी पीने से लगता है।

सासूजी! रात्रिभोजन तो प्रत्यक्ष ही अनेक अनर्थों का जनक है। रात्रि में भोजन करने से अनेक मनुष्यों को प्राणों से हाथ धोना पड़ा है। कहा है—

अंधो जीमण रात तणो,
त्रस जीवां रो भक्ष घणो।
कुष्टादि रोगे होवे मरणो,
आगे नरकगति में पचणो॥

मार्कण्डेय ऋषि कहते हैं:—

अस्तंगते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं, मार्कण्डेयमहर्षिणा॥

अर्थात्—सूर्य अस्त हो जाने पर जल रुधिर के समान और अन्न मांस के समान अर्थात् अपेय और अभक्ष्य हो जाता है; ऐसा महर्षि मार्कण्डेय ने कहा है।

इसी प्रकार रात्रि में भोजन बनाना भी अतीव हानि जनक और पाप जनक है। लीपना, पोतना, दही विलोना, झाड़ू लगाना, पीसना आदि कार्य भी रात्रि में नहीं करने चाहिए, क्योंकि इनसे त्रस जीवों की हिंसा होती है। भोजन बनाने, दही विलोने, पीसने में कोई विषैला जीव आ जाय तो वह भोजन करने वालों की मृत्यु का भी कारण बन जाता है। कभी-कभी कोढ़ आदि भयंकर रोग हो जाते हैं।

विवेकशील महिलाओं का कर्त्तव्य है कि वे दूध, दही, घी, तेल और पानी जैसे तरल पदार्थों के पात्र उघाड़े न रक्खें। उनमें जीव-जन्तुओं के गिर जाने का भय रहता है। वह वस्तुएँ ज़हरीली हो जाती हैं। हिंसा भी होती है, चीज़ भी बिगड़ती है और स्वास्थ्य भी खतरे में पड़ जाता है। इस प्रकार दोनों भवों में हानि होती है।

माताजी! जिस घर में आटा, दाल आदि भोजन-सामग्री बहुत दिनों तक पड़ी रहती है और बिना देखे-भाले रांधी-पकाई जाती है, वह घर श्मशान के समान समझना चाहिए। वह घर लट, जाले, कुंथवा आदि अनेक जीवों के वध का घर है। उस घर के चूल्हे में और कसाई-खाने में अधिक अन्तर नहीं है।

इसी प्रकार जिस घर में चूल्हे पर चदोवा नहीं तना रहता, वहाँ छिपकली आदि जीवों के गिर जाने और भोजन के विषैला हो जाने का भय बना ही रहता है। उस भोजन से कई बार मृत्यु तक हो जाती है। इसी प्रकार उखल और जलगृह भी बिना चदोवे के नहीं होने चाहिए।

पहले सफाई और स्वच्छता न रखना और गंदगी रख कर खटमलों को उत्पन्न होने देना और फिर भीतों पर, खाटों पर तथा पलंगों पर गर्म जल छिड़क कर निर्दयता पूर्वक उनकी हत्या करना, कितना भारी कुकर्म है! चतुर स्त्रियाँ अपने गृह और सामान को ऐसा रखती हैं कि खटमल या जूं आदि जन्तु

उत्पन्न ही नहीं हो सकते। इससे इह भव और पर भव-दोनों सुखमय बनते हैं।

बहुत-सी फूहड़ स्त्रियाँ आचार-मुरब्बा आदि बहुत दिनों तक सँभाल रखती हैं। जब उन पर फूलन आ जाती है, वह सड़ जाते हैं, उनमें कीड़े पड़ जाते हैं, तब उन्हें निकाल कर फेंकती हैं। इस तरह वे अनेक त्रस और स्थावर जीवों का घात करती हैं। अगर लोभ में पड़ कर उसे खा जाती हैं तो तरह-तरह की बीमारियों का शिकार होती हैं। कई पापिनी स्त्रियाँ अपने माथे के केशों को बहुत दिनों तक साफ नहीं करतीं।

चतुर नारियाँ समझदारी से काम करती हैं। वे अपने परिवार में उज्ज्वल संस्कृति, विशुद्ध व्यवहार और पवित्र वायुमण्डल बनाये रखती हैं। उनका परिवार अनेक रोगों से और कष्टों से बचा रहता है। उन्हें धर्म का नकद फल मिलता है।

सासूजी ! आप वयोवृद्ध हैं, समझदार हैं। मैं नासमझ बालिका हूँ। धृष्टतापूर्वक बहुत-सी बातें कह गई हूँ। मैं ने अपनी समझ से कुल की शोभा बढ़ाने वाली बातें ही कही हैं। तथापि यदि कुछ अनुचित कहा गया हो तो क्षमा कीजिए। बहू की बातें सुनकर साधारण श्रेणी की सासू लाल-पीली हो जाती। वह बहू को न जाने कितने मर्मवेधी ताने मारती। कहती—'चल, आई है बड़-बड़ करने कल की छोकरी कहीं की! बड़ी बुजुर्ग बनी फिरती है! लाज नहीं आती सासू के सामने उपदेश देते !'

मगर सुगुणी की सासू गंभीरहृदया और सरल थी। अपनी बहू की बातें सुन कर उसने अपमान नहीं, हर्ष अनुभव किया। उसने कहा—धन्य बहू, तुम सचमुच धन्य हो! बड़े कुल की बेटी की बुद्धि भी बड़ी है। तू ने बहुत अच्छी सुमति दी है। कौड़ी का खर्च नहीं और शरीर की स्वस्थता की रक्षा होती है। इस भव में भी सुख और परभव में भी आनन्द! मेरी बहू भी राजी रहेगी और दुनिया में देखाव भी अच्छा होगा! सब तरह से लाभ ही लाभ है। बिटिया, तू ने कोई भी अनुचित बात नहीं कही है। अब इस घर की व्यवस्था तेरे कथनानुसार ही होगी। सेठजी की सलाह लेकर मैं अभी सब प्रबन्ध करती हूँ तू प्रसन्न रह। चिन्ता न कर।

इस प्रकार आश्वासन देकर सासू चली गई। सुगुणी सोचने लगी—इस कुल के व्यक्ति भले मिथ्यादृष्टि हों, पर दुरभिनिवेशी नहीं हैं। सरल जान पड़ते हैं। इन्हें सुधारने में अधिक कठिनाई न होगी। यह सोच कर सुगुणी को सन्तोष हुआ।

११
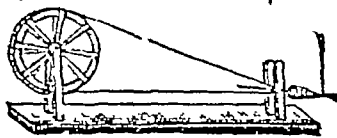
पति-पत्नी-संवाद

सुगुणी की सासू ने जिस सरलता से उसकी बातों को स्वीकार किया, उसे देखकर एक ओर उसे प्रसन्नता हुई तो दूसरी ओर एक नवीन विचार ने उलझन में डाल दिया। सुगुणी के अन्तस्तल में सहसा यह विचार आया कि इस घर वाले बड़े सरलहृदय हैं और अनायास ही समझ जाएँगे; तो फिर क्या कारण है कि दीर्घकाल से इसी परिवार में रहते हुए भी पतिदेव इस परिवार को नहीं सुधार सके ?

सत्संगति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। सत्संगति से सब प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है। जो सुसंगति पाकर भी नहीं सुधरता, समझना चाहिए कि वह अत्यन्त गुरुकर्मा जीव है। कहा भी है:—

कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते,
सा कामधुक् कामितमेव दोग्धि।
चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते,
सतां हि सङ्गः सुफलं प्रसूते॥

अर्थात्—कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि तो इच्छित वस्तु को ही प्रदान करते हैं, किन्तु सज्जनों के समागम से सुफल की प्राप्ति होती है। और भी कहा है:—

> जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
> मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
> चेत. प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिं,
> सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ॥

कहिए तो सही कि सत्पुरुषों के समागम से मनुष्य को कौन-सा लाभ नहीं होता? सत्संगति बुद्धि की जड़ता को नष्ट कर देती है, वचन में सत्य का सिंचन करती है, मान-सन्मान बढ़ाती है, पापों को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और सभी दिशाओं में कीर्त्ति का प्रसार करती है।

सुगुणी विचार करने लगी—संगति के महत्त्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? ऐसी स्थिति में पतिदेव इतने दिनों तक अपने घर के मिथ्याचार को क्यों नहीं हटा सके? और इस घर में रहकर उन्हें जैनधर्म की प्राप्ति कैसे हो गई? उनकी धर्मक्रिया सच्ची है या कपटक्रिया है? मैं कपट के जाल में तो नहीं पड़ गई हूँ? उनकी श्रद्धा सच्ची होती तो यह कुल कभी का सुधर गया होता! अगर यह सब कपटाचार है तो सम्यक्त्व का भी सद्भाव कैसे माना जा सकता है?

सुगुणी कुछ भी निश्चय नहीं कर सकी। पति के प्रति

अविश्वास करने में उसे अपरिमित मनोव्यथा का अनुभव हो रहा था, किन्तु मन से शंका निकल भी नहीं रही थी। आज का सारा दिन उसने नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों में ही व्यतीत किया।

मध्याह्न में अपने अमित और प्रखर तेज से देदीप्यमान दिवाकर अस्ताचल की ओर अग्रसर हुआ। अब उसके तेज में वह प्रखरता नहीं रही थी। धीरे-धीरे वह अस्ताचल के अंक में विलीन हो गया। सन्ध्या की लालिमा ने थोड़ी देर के लिए विश्व में अपना वैभव फैलाया। मगर वह भी अन्त में अंधकार में छिप गई। प्रकृति की यह क्रीड़ा जगत् के जीवों को महान् शिक्षा है। मगर कौन इस ओर ध्यान देता है?

बड़े भोर चहुँ ओर ललाई जो भू पर आई थी,
नभ से उतर प्रभा दिनकर की मध्य दिवस आई थी।
सन्ध्या-राग रंगीला मन को तुरत मोहने वाला,
हाय! कहाँ अब जब फैला है, यह भीषण तम काला।

हाँ, रजनी अपने सहचर तिमिर के साथ अवतरित हुई। भारत के अखिल भूमण्डल पर उसका साम्राज्य स्थापित हो गया। तब चन्द्रमा की तरह जिनदास सुगुणी के समीप आये। जिनदास को आता देख, सत्कार करने के अभिप्राय से वह अपने आसन से खड़ी हो गई। जिनदास ने मुस्कराते चेहरे से सुगुणी की ओर दृष्टि डाली, परन्तु उसका उत्तर उन्हें मुस्कराहट के साथ नहीं मिला। सुगुणी के चेहरे पर चिन्ता की

परछाई स्पष्ट दिखाई दे रही थी। जिनदास ने तत्काल सुगुणी के चिन्ताभाव को समझ लिया। उन्होंने अत्यन्त मधुर स्वर में सुगुणी से प्रश्न किया—प्रिये! गृहस्थजीवन के इस महापर्व के अवसर पर तुम्हें चिन्तातुर क्यों देख रहा हूँ? क्या मैं तुम्हारे विषाद का कारण जानने का अधिकारी हूँ?

सुगुणी—क्यों नहीं, प्रिय! मेरी यह शिकायत है कि आपने मेरे साथ कपट किया है। मैं नहीं जानती थी कि आपके घर में ऐसा अधर्म है! मैं आपकी धार्मिकता की प्रशंसा सुन: कर मुग्ध हो गई थी; पर आज मेरा भ्रम दूर हो गया। आपकी वास्तविकता का मुझे पता चल गया। आप श्रावक कहलाये, धर्म के वेत्ता बने, और घर में यह अनर्थ! आचार विचार का ठिकाना ही नहीं!

जिनदास ने सुगुणी को चिढ़ाने के अभिप्राय से उत्तर दिया—प्रिये! यहाँ आचार कहाँ? आचार तो हलवाई के घर होता है। मेरे यहाँ तो केवल विचार ही है!

सुगुणी, जिनदास का मुँह ताकती रह गई।

जिनदास कहते गये—प्रियतमे! इच्छित खाओ-पीओ, पहनो-ओढो, और नित्य नूतन भोग भोगो। इसी विचार में जीवन का आनन्द है! तुम्हारी हमारी जोड़ी कितनी अलबेली है।

सुगुणी—सद्गुरु की संगति करके आपने कितना सुन्दर उपदेश ग्रहण किया है! धन्य हो प्राणनाथ! जानकार होकर भी अनजान बन रहे हो? भंग तो नहीं पी ली है?

जिनदास--क्या मैं कोई अनुचित बात कह रहा हूँ ?

सुगुणी--और नहीं तो क्या ? मानव-जीवन क्या भोग भोगने के लिए है ?

जिनदास--दाम्पत्य जीवन क्या योगाभ्यास करने के लिए है ?

सुगुणी—निस्सन्देह ! गृहस्थजीवन योगी-जीवन के योग्य सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए है, भोग भोगने के लिए नहीं। भोग से तो कदापि तृप्ति नहीं हो सकती। यह जीव अनन्त मेरुपर्वतों के बराबर मिश्री खा चुका है, क्या तृप्त हुआ ? अनन्त वस्त्र धारण कर चुका है, फिर भी तृप्त नहीं हुआ। तो इस एक जीवन में खा-पीकर और पहन-ओढ़ कर कैसे तृप्त हो जायगा ? भोग किंपाक फल के समान हैं। देवलोक के भोगों से भी तृप्ति न हो सकी तो मानव के घिनौने भोगों से कैसे होगी ? यही सोचकर मैं धर्मनिष्ठ बनी हूं। मुझे आश्चर्य है कि आप धर्मज्ञान प्राप्त करके ऐसी बातें कर रहे हैं। सच है, सम्यग्दर्शन के अभाव में क्रिया करना भी निरर्थक होता है। कहा भी है:—

एक समकित पाया बिना, तप जप किरिया फोक ।
जैसे लीपन छार को, समझो कहे तिलोक ॥
एक समकित पाया बिना, तप जप किरिया फोक ।
जैसे मुरदो सिणगारवो, समझो कहे तिलोक ॥

जिनदास—पत्नी क्या, गुरुणीजी मिली हैं! थोड़ा उपदेश और फरमाइए।

सुगुणी—प्रियतम, उपहास न कीजिए। मैं उपदेश देने योग्य नहीं हूँ। हृदय में परलोक का खटका रखिए। यथाशक्ति धर्म का आचरण कीजिए और इस मूल्यवान् मनुष्यजन्म को सुधारिए। मैंने आपका यह सुन्दर रूप देखकर हाथ नहीं पकड़ा है। आपकी धर्मनिष्ठा देखकर ही आपको वरण किया है। अब आप हृदय की सच्ची बात कहिए, जिससे मेरे मन की उलझन दूर हो जाय।

जिनदास, सुगुणी की गहरी निष्ठा समझ गये। उसे अतीव उद्विग्न जान कर कहने लगे—प्रिये! तुम यथार्थ कहती हो। मैं भी यही जानता और मानता हूं। किन्तु घर वालों को कैसे समझाऊँ? यह लोग ठेठ से धर्मबाह्य हैं। लोक परलोक की बात समझते नहीं। मैं ने अनेक बार समझाने का प्रयत्न किया, मगर सब निष्फल हुआ। मैंने गुरुजी से ऐसा ही प्रत्याख्यान लिया है कि अंगीकृत व्रतों का मैं अपनी आत्मा से पालन करूँगा।

सुगुणी—मैंने आज माताजी को समझाया है, आप पिताजी को समझाइएगा।

१२

परिवार का सुधार

दूसरे दिन अवसर देख कर जिनदास अपने पिता के समीप पहुँचे। जाते ही उन्होंने चरणों में प्रणाम किया। सोहन शाह ने अपने धर्मनिष्ठ पुत्र पर सुधा सिक्त दृष्टि डाल कर कहा—चिरंजीव होओ बेटा ! आज क्या सुना है ?

जिनदास ने हाथ जोड़ कर कहा—गुरुदेव ने आज गृहस्थ धर्म का व्याख्यान करते हुए जैनाचार का निरूपण किया था। बतलाया था कि—गृहस्थ के बारह व्रत हैं, उनमें पहला व्रत अहिंसा है। अहिंसा सभी धर्मों में उत्तम मानी गई है। गुरुजी ने उस पर बहुत सुन्दर विवेचना की। जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर। चलते-फिरते द्वीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं और स्थिर रहने वाले एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं। गृहस्थ को त्रस जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा का त्यागी होना चाहिए और स्थावर जीवों की भी यथासंभव यतना करनी चाहिए। स्थावर जीव पाँच प्रकार के हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इन जीवों की निर-

र्थक हिंसा नहीं करनी चाहिए। आवश्यकता से अधिक इनका व्यवहार नहीं करना चाहिए। खानें खोदने का धंधा करना, एक मकान होते हुए दूसरा बनवाना, सचित्त मिट्टी का भक्षण करना, ओले-बर्फ खाना, आठों पहर आग सुलगाये रखना, अनन्तकाय कदमूल आदि खाना, व्यर्थ बड़े-बड़े पंखे लगवाना आदि का त्याग करने से स्थावर जीवों की हिंसा से बचाव किया जा सकता है।

निरपराध त्रसजीवों का जान-बूझ कर हनन करने वाला जैन नहीं कहला सकता। अतएव गृहस्थ को इस हिंसा से बचना चाहिए। दीपक, चूल्हा. तरल पदार्थ आदि को खुला कभी नहीं रखना चाहिए। रात्रि में भोजन बनाना, पीसना, कूटना, लीपना, दही विलोना और झाड़ू देना आदि क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए। अनछने पानी का उपयोग न करे। विना देखी वस्तु को काम में न लावे, न पकावे, न खावे। घुने अनाज को न धूप में रक्खे और न खावे। उसे एकान्त में रख दे। ऐसा करने से गृहस्थ भी बहुत-से पापों से बच सकता है।

इतना कहकर अन्त में जिनदास ने कहा—पिताजी! जीव दया के उपर्युक्त कार्य करने से हमारे जीवन व्यवहार में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है और पापों से भी बचाव होता है। अतएव अपने घर में ऐसी ही व्यवस्था करनी चाहिए। यह व्यवस्था इह-परभव में कल्याण करने वाली है।

जिनदास का कथन सुन कर सेठ सोहन शाह भी अत्यंत

प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी पत्नी से इस सम्बन्ध में बातचीत की और घर में धर्मानुकूल समस्त व्यवस्था करने की हिदायत कर दी।

सुगुणी प्रातःकाल उठ कर प्रतिक्रमण करती। तत्पश्चात् वह गृहकार्य की व्यवस्था बिठला देती। वह भोजनशाला में चली जाती और अपने आप चूल्हे, बरतन, लकड़ी आदि यतना से पूंज कर रख देती थी। भोजन की दाल, शाक, आटा आदि समस्त सामग्री को स्वयं भलीभांति देख लेती थी। रसोई और पानी आदि की जगह चंदोवा तनवा दिये गये थे। इस प्रकार सब गृहव्यवस्था करने के पश्चात् सुगुणी व्याख्यान सुनने जाती थी। अब सुगुणी को सन्तोष था। वह सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगी।

जिनदास भी रात्रिक प्रतिक्रमण करके माता, पिता, भ्राता और भौजाइयों को प्रणाम करता था। तत्पश्चात् पिता की अनुमति लेकर धर्मोपदेश सुनने चला जाता था। इस प्रकार जिनदास और सुगुणी दोनों ही धर्माराधन के साथ अपना आदर्श गृहस्थजीवन यापन करने लगे।

१३
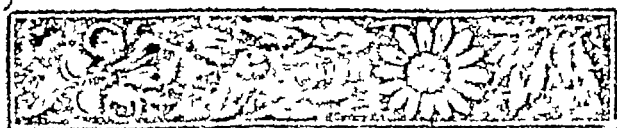
गृह-कलह
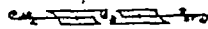
ज्ञान के महत्त्व की कहीं परिसीमा नहीं। ज्ञान आत्मा की प्रखर शक्ति है। ज्ञान की इस शक्ति से जीव राग और द्वेष पर विजय प्राप्त करता है। जिसे ज्ञान की शक्ति प्राप्त नहीं है-जो अज्ञान से आवृत है, वह सहज ही अशुभ कर्मों का बन्ध कर लेता है और अपनी आत्मा को मलिन बनाता रहता है।

जिन भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करके उन पर सम्यक् श्रद्धान करने वाला और कषायों को पतली करके समभाव में विचरने वाला पुरुष पुंगव ही मुक्तिधाम का अधिकारी बन सकता है।

मानवस्वभाव कुछ ऐसा ही है कि उत्तम जन उत्तम जनों की ओर अधम जन अधम जनों की संगति खोजता है और उसी में प्रसन्न रहता है। प्रसन्नता भले दोनों प्रकार के मनुष्यों को हो, मगर एक की प्रसन्नता कल्याण का और दूसरे की प्रसन्नता अकल्याण का कारण बनती है।

सुगुणी और जिनदास दोनों ही आचार एवं विचार में उत्तम थे। दोनों की बड़ी ही उत्तम जोड़ी मिल गई थी। अतएव दोनों प्रसन्न रहते और एक दूसरे के धर्म में सहायक हो रहे थे। जब पत्नी, पति की शक्ति बन जाती है और पति, पत्नी का पराक्रम बन जाता है, तो दोनों का सुन्दर विकास होता है। दोनों पारस्परिक सहायता से सामर्थ्यशाली बनते हैं। सुगुणी, जिनदास की शक्ति थी और जिनदास सुगुणी का पराक्रम था। अथवा यों कह सकते हैं कि सुगुणी सुमति थी तो जिनदास विवेक था।

जिनदास और सुगुणी एक पहर रात रहते शय्या त्याग देते थे और प्रातःकृत्यों से निवृत्त होकर धर्मचर्चा किया करते थे। तत्पश्चात् श्रावकाचार के अनुसार व्यवहार करते थे। मुनियों की उपासना करते, माता-पिता की सेवा करते और दान आदि करते थे।

धर्मनिष्ठ मनुष्य प्राणी-मात्र के हित की कामना करते हैं। वे स्वप्न में भी किसी का अनिष्ट नहीं चाहते। जिनदास और सुगुणी दोनों ने भाइयों और भौजाइयों को सन्मार्ग पर लाने के यथाशक्य सब प्रयत्न किये। उपदेश दिया, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का फल बतलाया; परन्तु कर्मोदय के कारण उन पर किंचित् भी अनुकूल प्रभाव न पड़ा। प्रभाव पड़ा भी तो विपरीत ही। इनकी शिक्षाओं से तीनों भाइयों और तीनों भौजाइयों के चित्त में आर्त्तध्यान की वृद्धि हुई, ईर्षा का उदय हुआ और द्वेष का बीजारोपण हुआ। जैसे वर्षा होने से जवासा हरा

होने के बदले सूख जाता है, उसी प्रकार सुशिक्षा पाकर छहों प्राणी विपरीत श्रद्धा में अधिक दृढ़ होने लगे। यथार्थ ही कहा है:—

उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्द्धनम् ॥

अर्थात्—मूर्खों को दिया हुआ उपदेश कोप का कारण बनता है, शान्ति का नहीं। साँपों को दूध पिलाना केवल उनके विष को बढ़ाना है।

जिनदास के भाइयों ने द्वेष के वशीभूत होकर निराले-निराले सिद्धान्त गढ़ लिये। वे कहने लगे—परलोक की बात गप्प है। धर्म करने से प्रत्यक्ष ही दुःख देखना पड़ता है। दान देने से गाँठ की पूंजी भी चली जाती है। तपस्या करने से तन दुर्बल हो जाता है। शील पालने से मनुष्य को सन्तानहीन होना पड़ता है!

सुगुणी उनके द्वेष का प्रधान केन्द्रस्थल थी। उस पर दोषारोपण करते हुए वे कहते—इस घर में जब से छोटी बहू आई है, ढोंग ही ढोंग फैल गया है। इसने आकर घर के सुख को स्वाहा कर दिया है। इसी ने सब के मुँह पर छींका बँधवा दिया है!

जिनदास अतीव नम्रभाव से समझाने का प्रयत्न करता—'बन्धुवर, ऐसा समझना आपका भ्रम है। पूर्व भव में दान देने का ही यह फल है कि इस जन्म में बिना प्रयास किये सम्पत्ति

मिली है। हम लोग क्या पूर्वभव की सम्पदा बाँध कर यहाँ लाये हैं ? और यदि व्यभिचार से कुल की वृद्धि होती है तो वेश्या बहुत सन्तानवती होनी चाहिए। तप से तन क्षीण नहीं होता, वरन् नीरोग होता है। आप मुँह बाँधने की बात कहते हैं सो उत्तम वस्तु के बरतन का मुँह बाँधा जाता है। इस तरह आपको उलटा न समझ कर सीधा समझना चाहिए।'

जिनदास का यह उत्तर सुनकर उसके भाइयों को प्रत्युत्तर न सूझा तो वह कहने लगते—जा, जा, तू तो औरत का क्रीत दास बन गया है ! इन बुड्ढे और बुढ़िया की अक्ल सठिया गई है ! यह भी तुम दोनों के फंदे में फंस गये हैं !

इस प्रकार के अयोग्य वचन सुनकर जिनदास और सुगुणी विचार करते—यह भारी कर्म वाले जीव हैं। इन्हें उपदेश किस तरह लग सकता है ? जिनागम में कहा है कि जब कर्मों की स्थिति कोड़ाकोड़ी सागरोपम से भी कम हो जाती है, तभी जीव धर्म के मार्ग पर आ सकता है। अतएव इन बेचारों का क्या दोष है ? इनके कर्मों का ही दोष है, जिनके कारण इनकी मति विपरीत हो रही है। पीलिया के रोगी को धवल वस्तु भी पीली-पीली ही नज़र आती है। इसी प्रकार जिसका जैसा भविष्य है, उसकी बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है। हमने अपने कर्त्तव्य का पालन किया। इन्हें सन्मार्ग पर लाने का भरसक प्रयत्न किया। यह नहीं समझते तो हम क्या करें ? जो जैसा करेगा वैसा भोगेगा।

जिनदास और सुगुणी ने यह भी निश्चय कर लिया कि जब-जब इन्हें धर्म का उपदेश दिया जाता है, तब-तब कलह होता है। अतएव कलह से बचने और परिवार की शान्ति की रक्षा करने के लिए यही ठीक होगा कि इन्हें धर्म का उपदेश ही न दिया जाय। माता-पिता घर में अनाचार तो होने ही न देंगे। कुछ होगा तो उन्हीं से हम कह देंगे। इसी में हमारी शोभा है।

इस प्रकार निश्चय करके यह आदर्श दम्पती मौन हो रहा। वह अपनी धर्मक्रिया में सुदृढ़ था, मगर दूसरों को कभी सीख नहीं देता था। मगर जिसके अन्तःकरण में ईर्षा की आग सुलगती रहती है, वह स्वयं तो जलता ही है, साथ ही आस-पास वालों को भी जलाता है। दूसरों को शान्त और प्रसन्न देखकर उसकी ईर्षाग्नि और अधिक भड़कती है।

यद्यपि जिनदास और सुगुणी की ओर से कलह का कोई कारण नहीं उत्पन्न किया जाता था, बल्कि कलह को टालने का ही निरन्तर ध्यान रक्खा जाता था, मगर वह तीनों दम्पती शान्ति पसंद नहीं करते थे। अतएव वह बात-बात में झगड़ा करने को उद्यत हो जाते थे। फिर भी जिनदास और सुगुणी अत्यन्त धैर्य और शान्ति के साथ सब कुछ मौनभाव से सहन करते जा रहे थे। इससे उन्हें द्रव्य और भाव-दोनों तरह का लाभ था। द्रव्य से लाभ यह था कि लोक में उनके यश का प्रसार होता था और माता-पिता उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। भाव से लाभ यह था कि सहिष्णुता और समभाव से उनके कर्मों की निर्जरा हो रही थी। कहा भी है:—

भावे सहे समभाव थी, समर्थ एक ही गाली जी,
ते अनन्त वर्गणा कर्म की, देवे क्षण में बाली जी ॥

जो समर्थ हो कर भी, अन्तःकरण से एक भी गाली को सहन कर लेता है, वह क्षण भर में कर्म की अनन्त वर्गणाओं को भस्म कर देता है।

उधर सुगुणी की तीनों जिठानियों का हाल बड़ा विचित्र था। तीनों फूहड़ थीं, गुणहीन थी, फिर भी अहंकार की पुतलियाँ थीं। सुगुणी के सम्मान-सत्कार को देखकर उनके कलेजे में असह्य दाह होती थी। वे सदा 'छेड़खानी' किया करती थीं। फिर भी शान्ति का अवतार सुगुणी ध्यान नहीं देती थी। वह जेठानियों की छेड़छाड़ की सदैव उपेक्षा किया करती। वह अपने नित्य-नियम में मगन रहती। विशेषता तो यह थी कि सुगुणी अपनी जेठानियों का पूर्ववत् ही आदर किया करती।

सुगुणी के इस सद्व्यवहार का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। वे अपने स्वभाव का परित्याग न कर सकीं। बात-बात में झगड़ा करने को तैयार रहतीं। रात्रि में अपने-अपने पति के कान भरती रहती थीं। कोई कहती—'जिनदास धनवान् की वेटी को व्याह लाया है तो घमण्ड का मारा धरती पर पाँव नहीं रखता। सासूजी बहू के हुकम में चलती हैं और बाप वेटे का गुलाम बना हुआ है। हम लोग किसी गिनती में ही नहीं हैं। फिर भी आप इतने भोले हैं कि कुछ समझते ही नहीं। इन बातों पर ध्यान ही नहीं देते। हम से यह अपमान नहीं सहा जाता। अपमान के घूट पीने की अपेक्षा तो विष का

प्याला पी लेना कहीं उत्तम है। भला यह भी कोई जीवन है! आप दिन-रात परिश्रम करके धनोपार्जन करते हैं और हम रात-दिन घर के काम-काज में दासी के समान व्यस्त रहती हैं।'

दूसरी अपने पति के कानों में हृदय का विष उड़ेलती हुई कहती थी—'प्राणनाथ! हमारे घर में सुगुणी क्या आई है, जादूगरनी आई है! इसके पाँव पड़ते ही घर का रङ्ग-ढङ्ग बदल गया। सुख पर पानी फिर गया। इसने सेठ-सेठानी को अपनी माया के चङ्गुल में फाँस लिया है और घर की मालकिन बन बैठी है! आप रानी बनी है, जिनदास राजा बना फिरता है! हम तो मानों इस घर की दासी हैं। जैसे मोल देकर खरीदी गई हैं! इसी मायाविनी ने सब का मुँह बँधवा दिया है! घर का प्राचीन आचार-विचार विलुप्त हो गया है! बात-बात में नियम, बात-बात में अंकुश! यह खाना, वह नहीं खाना, इस समय खाना, उस समय नहीं खाना। भला यह भी कोई बात है! ऐसा अंकुश तो पशुओं पर भी नहीं रक्खा जाता।'

तीसरी अन्तस्तल की ईर्षा की आग अपने पति के कानों में डालती हुई कहती—'यह सुगुणी वास्तव में बड़ी दुर्गुणी है। काम-काज कुछ करती नहीं, धर्म की बातें बनाया करती है। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर धर्म करने बैठ जाती है, फिर धर्म-स्थान में चली जाती है। आकर सीधा भोजन कर लेती है। हम रात-दिन मरती-पचती रहती हैं। इस पर भी तुर्रा यह कि हमें अज्ञानी और अधर्मी कहती है। हमारा उपहास करती है। इसने हमारे हृदय में आग लगा दी है। आखिर कहाँ तक दुःख

सहन करें ? बतलाइए तो सही कि आपको छोड़कर हमारा कौन है ? किसके सामने अपना दुखड़ा रोएँ ? अब यह दुःख नहीं सहा जाता। कई बार जी में आया कि ज़हर खाकर इस जिन्दगी से छुट्टी पा लें, मगर आपकी प्रीति के कारण ज़हर भी नहीं खा सकती। प्राणेश्वर ! मैं आपकी जोड़ायत हूँ, अर्धाङ्गिनी कहलाती हूँ। आप ही मेरे एक मात्र आधार हैं। अनुग्रह करके शीघ्र ही कोई समुचित उपाय कीजिए, जिससे आपका और मेरा शरीर छीजने से रुक जाय। जल्दी ही व्यवस्था न की तो आपको ही पछताना पड़ेगा।

मुझे तो एक ही रास्ता दिखलाई देता है। आप पिताजी के पास जाकर सम्पत्ति का बँटवारा करवा लीजिए। शर्म रखने से काम नहीं चलेगा। अलग मकान ले कर आराम से उसमें रहेंगे। आप नित्य कमाई करेंगे और खर्च थोड़ा होगा। सब धन घर में बचा रहेगा। थोड़े ही समय में हम श्रीमन्त हो जाएंगे। जिनदास का घमण्ड चूर-चूर हो जायगा। वह भी देख लेगा कि कमाई कैसे की जाती है ! उसे कमाना आता नहीं, खाना-पीना और मौज करना आता है। थोड़े ही दिनों में उसकी बुद्धि दुरुस्त हो जायगी। देवरानी का अभिमान भी गल जायगा। वह कुछ काम नहीं करेगी और नौकर-चाकर सारा धन खा-पी कर पूरा कर देंगे। जब वह दुखी हो जाएँगे तो राह पर आएँगे। फिर हमारी गुलामी करेंगे। स्वतंत्र रह कर हम लोग मौज करेंगे, आराम करेंगे। मैं आपको गरम-गरम भोजन जिमाऊंगी और शीतल जल पिलाऊँगी।

इस प्रकार जिनदास की तीनों भौजाइयों ने उसके तीनों भाइयों को भरमा दिया। तीनों बुद्धू भाई उनकी बातों में आ गये। ठीक ही कहा है:—

स्त्रियो हि मूलं निधनस्य पुंसः,
स्त्रियो हि मूलं व्यसनस्य पुंसः।
स्त्रियो हि मूलं कलहस्य पुंसः,
स्त्रियो हि मूलं नरकस्य पुंसः॥
सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति,
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां,
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति॥

स्त्रियाँ, पुरुष की मृत्यु का कारण होती हैं, स्त्रियाँ पुरुष की आपत्तियों का कारण होती हैं, स्त्रियाँ पुरुष के कलह का कारण होती हैं और यही स्त्रियाँ पुरुष के नरक गमन का भी कारण होती हैं।

स्त्रियाँ अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करके पुरुष को मूढ़ बना देती हैं, मदोन्मत्त कर देती हैं, नाना प्रकार की विडम्बनाएँ पैदा करती हैं, भर्त्सना करती हैं, रमण कराती हैं और फिर विषाद भी उत्पन्न करती हैं। यह दया के साथ पुरुष के हृदय में प्रवेश करके न जाने किन-किन अनर्थों को नहीं उत्पन्न करतीं ! इनकी लीला अपरम्पार है।

स्त्रियों के बहकावे में आकर तीनों भाई सोचने लगे-हम लोगों को जिनदास से पृथक हो जाना चाहिए। उन्होंने आपस में मिल कर पक्का निश्चय कर लिया कि अब हम सम्मिलित नहीं रहेंगे।

एक दिन तीनों मिल कर अपने पिता सोहन साहू के पास पहुँचे। साहू ने उनके आने का प्रयोजन पूछा तो वह बोले—'पिताजी! पुरानी कहावत है-साठी बुद्धि नाठी।' अर्थात् मनुष्य जब साठ वर्ष का हो जाता है तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। आपको देख कर हमें इस कहावत की सत्यता का विश्वास हो गया है। दुःख की बात है कि आपकी बुद्धि भी नष्ट हो चुकी है। आपने जिनदास को सिर पर चढ़ा लिया है। वह कुछ भी काम नहीं करता। मुँह बाँध कर और हाथ में पूंजणी लेकर बैठा रहता है। वह बाबाओं की संगति करके थोड़े ही दिनों में स्वयं बाबा बन जायगा। उसे आपका समर्थन प्राप्त है। आप उसे चढ़ाते रहते हैं। इस कारण वह हममें से किसी की बात पर कान नहीं देता। अतएव या तो उसे समझा कर काम धंधे में लगाइए या हम लोगों को न्यारा कर दीजिए। सब अलग-अलग रहेंगे तो सभी सुखी रहेंगे। अपना-अपना करेंगे और अपना-अपना खाएँगे। अब हम अपनी कमाई पर उसे गुलछर्रे नहीं उड़ाने देंगे।

पिताजी! जल्दी से जल्दी ऐसी व्यवस्था कर दीजिए। अपनी लाज बचानी हो तो ढील न कीजिए। अन्यथा दुनिया में आपकी बेइज्जती होगी। लोक-हँसाई होगी।'

नीतिकार कहते हैं:—

निरुत्साहं निरानन्दं, निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥

अर्थात्—उत्साहहीन, आनन्द से रहित, पराक्रम शून्य तथा अपने व्यवहार से शत्रुओं को आनन्दित करने वाले पुत्र को कोई माता जन्म न दे, यही बेहतर है।

१४

पिता का उद्बोधन

उनके अभागे लड़के समझते थे कि सोहन साहू की वुद्धि सठिया गई है, परन्तु वास्तव में वह समझदार व्यक्ति थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे। एक समय वह करोड़पति सेठ थे। दिन बुरे आये तो सारी सम्पत्ति समाप्त हो गई और उन्हें फूस की झोंपड़ी में रहकर दिन बिताने पड़े। मगर वह दिन भी न रहे। समय बदला और फिर वह सम्पन्न हो गए। अवनति और उन्नति के कारणों को वह भलीभाँति जानते थे। उन्हें पता था कि तीन लड़कों की बदौलत उनकी क्या स्थिति हुई और जिनदास के पुण्यप्रभाव का क्या फल हुआ? उन्हें यह भी विदित था कि आज परिवार की सम्पन्न अवस्था का मुख्य कारण जिनदास का पुण्य है। समस्त परिवार उसी के पुण्य के प्रभाव से आनन्द पूर्वक रह रहा है। एक के पुण्य से अनेकों को साता उपजती है। सम्मिलित परिवार की यह भी एक विशेपता है।

जब सोहन सेठ के तीनों बड़े लड़कों ने अलग होने की

माँग की तो उन्हें समझते देर नहीं लगी कि इनका दुर्भाग्य जोर मार रहा है। कदाचित् यह लोग जिनदास से अलग हो गए तो दाने-दाने को मुँहताज़ होंगे! अतएव शान्ति के साथ लड़कों की बात सुन कर उन्होंने कहा—पुत्रो! तुम लोग वयस्क हो गए हो। तुम्हें बाँध कर रखना मेरी शक्ति से बाहर है। चाहोगे तो अलग कर दिये जाओगे। लेकिन मेरे सिर के बाल पक गये हैं। मेरे अनुभव से लाभ उठाओगे तो तुम्हारा ही कल्याण होगा। पिता का हृदय कपूत से कपूत बेटे पर भी निष्ठुर नहीं हो सकता। इसलिए उतावल न करो। शान्ति के साथ मेरी बात पर विचार करो।

पुत्रो! कौन जानता है कि किसके भाग्य से कौन खा रहा है? सम्मिलित हो तो सब का भाग्य भी सम्मिलित है। अलग होकर कुछ लाभ नहीं उठाओगे। एकता में सुख और सम्पत्ति है, फूट में लूट के सिवाय कुछ नहीं। चारों भाई मिल कर रहोगे तो सुखी रहोगे। तुम्हारे शत्रु भी कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। एकता बड़ी चीज़ है। कहा भी है:—

बिन एकता संसार में पाता विजय कोई नहीं,
बिन एकता मन काय वाचा मोक्ष भी मिलता नहीं।
है कौन सा संसार-सुख वह वश जिसे करती नहीं,
आतंक भी है कौन सा वस वह जिसे हरती नहीं॥

पतले-पतले तन्तुओं के मेल से बने रस्से से बड़े-बड़े गजराज बाँधे जाते हैं। बहुत-सी कीड़ियाँ मिलकर नाग को भी

मार डालती है। अनेकों के सम्मिलन से बड़े-बड़े काम होते हैं। एकता के चमत्कार संसार में प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। फिर भी तुम एकता को भंग करके अनेकता उत्पन्न करना चाहते हो? एकता के विषय में एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है:—

वसन्तपुर में कमलाकर नामक एक सेठ रहते थे। वह बड़े धनवान् थे और यशस्वी थे। दूर-दूर तक उनकी कीर्त्ति फैली थी। उनकी पत्नी का नाम था-सुन्दरी। सुन्दरी के उदर से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। सभी रूपवान्, गुणवान्, बुद्धिमान् और पुण्यवान् थे। शरीर से बलिष्ठ थे। सभी कुछ था, मगर एक बहुत बड़ा दोष उनमें यह था कि वे एक दूसरे के प्रति ईर्षा रखते थे। किसी को किसी की प्रशंसा और बलिष्ठता नहीं सुहाती थी। ईर्षा ने जब उग्र रूप धारण किया तो पाँचों भाई आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। फूट का बीजारोपण हो गया। उनसे अंकुर भी फूटने लगे।

यह स्थिति देख कर कमलाकर सेठ सोचने लगे-पाँचों भाई मिल-जुल कर रहें तो पाण्डवों की तरह अजेय हो सकते हैं। पाँचों में ऐसी ही फूट रही तो पचत्व को प्राप्त हो जाएँगे। यह सोच कर उन्होंने अपने पुत्रों को समझाने का बहुत प्रयत्न किया। फिर भी सफलता न मिली। उनकी बात पर किसी ने कान नहीं दिया। पाँचों का अन्तः करण अभिमान के उन्माद से उन्मत्त हो रहा था। कोई झुकने को तैयार न था। सेठ कमलाकर दुखी हो गये।

एक दिन एक लकड़हारी आई। वह सेठ के घर लकड़ियाँ

का भारा ले कर आई थी। सेठ ने भारे को खरीद लिया और चौक में रखवा दिया। लकड़हारी को दाम देकर विदा कर दिया। तदनन्तर उन्होंने अपने लड़कों को बुला कर कहा—बेटा, तुम पाँचों बड़े पराक्रमी हो, बलशाली हो। नवयौवन के अभिमान में छके हो। शत्रु को पास नहीं फटकने देते। मेरी एक बात मानो तो कहूँ ?

सब ने कहा—हाँ हाँ, क्यों नहीं मानेंगे! कहिए।

सेठ बोले—कोई बड़ी बात नहीं है, कष्ट का काम भी नहीं है। मैं यह चाहता हूँ कि तुममें से कोई इस बंधे भारे को तोड़ दे! जो इसे तोड़ देगा, उसे बड़ा पराक्रमी समझूँगा।

पिता की आज्ञा होते ही सब से बड़ा लड़का अकड़ कर उठा और भारे के पास पहुँचा। उसने अपनी समस्त शक्ति लगा दी। पर भारे में बँधी एक लकड़ी न टूट सकी। वह लज्जित होकर हट गया।

इसी प्रकार पाँचों ने अपना-अपना जोर अज़माया; पर भारा टूट न सका। सब का प्रयत्न निष्फल हुआ।

पाँचों भाई निराश हो गये। बोले—पिताजी, हमने पूरा बल लगा दिया। यह भारा नहीं टूट सकता।

सेठ—फिर प्रयत्न करो, शायद टूट जाय।

लड़के—कुछ भी कसर नहीं पिताजी, नहीं टूटता।

सेठ—तो एक काम करो। भारे को खोल डालो और एक-एक लकड़ी तोड़ो।

लड़कों ने एक-एक लकड़ी ली और उसी समय तड़ाक् से तोड़ डाली।

सेठ बोले—पुत्रो ! इस उदाहरण से क्या शिक्षा मिलती है ? जब तक सब लकड़ियाँ मिली हुई थीं, टूट नहीं सकीं। तुम पाँचों ने पूरा जोर लगाया, मगर वह निष्फल हुआ। जब वह अलग-अलग हो गईं तो अनायास ही टूट गईं। इसी प्रकार तुम पाँचों मिल-जुल कर रहोगे तो बड़े से बड़े शक्तिशाली भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। और यदि अलग रहोगे तो अनायास ही कोई तुम्हें हानि पहुँचा सकेगा। तुम एक होकर रहोगे तो अनेकों शत्रुओं का सफलता के साथ सामना कर सकोगे और अनेक होकर रहोगे तो एक का सामना भी न कर सकोगे।

प्रत्यक्ष दृष्टान्त देख कर कमलाकर सेठ के पाँचों लड़के तत्काल समझ गये। उन्होंने कहा—आप जैसे कुशल पथप्रदर्शक पिता को पाकर हम धन्य हुए। आपके अनुग्रह का ऋण चुकाना हमारे लिए असंभव है। अब हम पाँचों भाई भूल-चूक कर भी नहीं लड़ेंगे। हिल-मिलकर प्रेम से रहेंगें।

अपने लड़कों की समझदारी देखकर कमलाकर सेठ को कितना आह्लाद हुआ होगा, इसकी कल्पना भी कठिन है।

यह दृष्टान्त सुनाकर सोहन शाह बोले—कमलाकर सेठ भाग्यवान् थे कि उनके लड़के चट समझ गए। बेटा, क्या तुम मुझे ऐसा ही भाग्यवान् नहीं बना सकते ? क्या तुम उनके
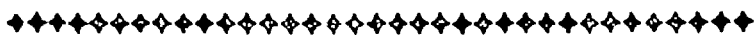
लड़कों से कम समझदार हो ? जरा एकता की महत्ता का विचार करो। मेरी बात न मानोगे तो निश्चय ही तुम्हें घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

सोहन शाह का कथन सुन कर तीनों लड़के चुप रह गये। कोई उत्तर न दे सका। चुपचाप उठ कर चल दिये और अपने-अपने काम में लग गये। उन्होंने एकता से रहने का विचार कर लिया था, फिर भी कोई स्पष्ट रूप से यह बात कह न सका। सोहन सेठ ने तत्काल शान्ति हुई समझ कर शान्ति की सांस ली, फिर भी उनका मन पूरी तरह शान्त न हो सका।
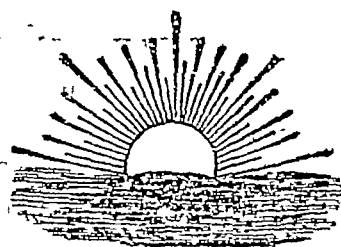
संप का अद्भुत प्रभाव

रात्रि हुई। तीनों बहुओं ने अपने-अपने पतियों से पूछा—क्या परिणाम निकला ? अलग होने की बात पक्की हो गई या नहीं ? तब उन्होंने उत्तर दिया—फूट से फज़ीहत होती है। मिलजुल कर रहने में ही हित है। पिताजी की भी यही सम्मति है।

यह उत्तर सुनने को तीनों में से कोई तैयार नहीं थी। अतएव उनका पारा आसमान पर चढ़ गया। उन्होंने कहा—नाथ, तुम भोले हो। जिनदास महा कपटी है और सुसरजी भी कम कपटी नहीं हैं। उनके पेट में गाँठ है। तुम उनकी मीठी-मीठी बातों में आ गये हो ! बूढ़े पिताजी अब अन्न और वस्त्र के लिए भी अपने मुहताज़ हैं। इनसे डर किस बात का ? अपनी मिहनत से चारों मौज उड़ा रहे हैं। वे कब चाहेंगे कि हम अलग हो जाएँ ! उन्हे पता है कि हमारे अलग होते ही उन्हें दाल-आटे का भाव मालूम हो जाएगा। हमें उनकी बातों में नहीं आना चाहिए।

हम साफ बताए देती हैं कि—हम किसी भी स्थिति में सम्मिलित नहीं रहेंगी। अपना भला चाहते हो तो चुपचाप अलग हो जाओ। अन्यथा सारे शहर में बदनामी फैलेगी। घर में कलह की आग भड़केगी।

आवड़, जावड़ और खावड़ तीनों अपनी-अपनी पत्नियों के सामने असमर्थ थे। नासमझ स्त्रियों के हठ के सामने उनकी एक नहीं चलती थी।

× × × ×

प्रातःकाल हुआ तो तीनों भाई फिर सोहन सेठ के पास पहुंचे और फिर अलग होने की माँग करने लगे। सेठ बड़े असमंजस में पड़ गये। वह जानते थे कि जिनदास के पुण्य-प्रभाव से ही यह लोग सुख की जिंदगी बिता रहे हैं। उससे अलग होकर भिखारी की हालत में जा पहुंचेंगे। इस कारण वे उन्हें अलग नहीं करना चाहते थे; मगर लड़कों का भविष्य उन्हें और उनकी पत्नियों को विपरीत पथ पर ले जा रहा था।

तीनों भाई पिता के समीप बैठे ही थे कि उसी समय जिनदास भी वहां आ पहुँचा। वह व्याख्यान सुन कर आ रहा था। सोहन सेठ ने प्रतिदिन के अनुसार कहा—कहो बेटा, आज क्या सुन आये हो?

जिनदास ने कहा—आज श्रीगुरु ने एक उपदेशप्रद कथा कही थी। वह इस प्रकार है:—

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆

जनपद पुर में पिशुनजय नामक एक राजा था। वह न्यायी, नीतिनिष्ठ और गुणवान् राजा था। उसका पुत्र सुरसिंह था। राजकुमार सुरसिंह बाल्यावस्था से ही कुसंगति में पड़ गया। कुसंगति बड़ों-बड़ों को भी मिट्टी में मिला देती है। कुसंगति के प्रभाव से समझदार भी नासमझ, विवेकवान् भी मूर्ख और धर्मी भी अधर्मी बन जाते हैं। फिर राजकुमार सुरसिंह तो बालक ही था। उसकी बुद्धि अपरिपक्व थी। कुसंगति ने शीघ्र ही उस पर अपना प्रभाव जमा लिया। यथार्थ ही कहा है:—

अणुरप्यसतां सङ्गः, सद्गुणं हन्ति विस्तृतम्।
गुणो रूपान्तरं याति, तक्रयोगाद्यथा पयः॥

अणु मात्र कुसंग भी विशाल से विशाल सद्गुण को नष्ट कर डालता है। मन भर दूध थोड़े-से छाछ के संसर्ग से एकदम परिवर्त्तित हो जाता है। उसका रूप-रस सभी कुछ बदल जाता है। और भी कहा है:—

रे जीव! सत्संगमवाप्नुहि त्वम्
असत्प्रसङ्गं त्वरया विहाय।
धन्योऽपि निन्दां लभते कुसङ्गात्,
सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे॥

हे जीव! तू जल्दी से जल्दी असज्जनों का संसर्ग छोड़ कर सत्पुरुषों की संगति प्राप्त कर। असत्संगति से, जो धन्य होता है, वह भी निन्दा का पात्र बन जाता है। सिन्दूर की

विन्दी सौभाग्य का चिह्न समझी जाती है; परन्तु वही जब विधवा के भाल पर होती है तो निन्दा का पात्र बन जाती है।

असत् पुरुषों की संगति मधुर गरल के समान है। वह अनजान में ही अपना दुष्प्रभाव दिखलाती है और धीरे-धीरे जीवन को बर्बाद कर देती है।

सुरसिंह कुसंगति के चंगुल में पड़ कर सातों कुव्यसनों का सेवी बन गया। एक-एक कुव्यसन भी मनुष्य को नरकगामी बना देता है, तो जहाँ सातों मिल जाए, वहाँ कहना ही क्या है? कहा भी है—

> *द्यूतञ्च मांसं च सुरा च वेश्या,*
> *पापर्धिचौर्यं परदारसेवा ।*
> *एतानि सप्त व्यसनानि लोकान्,*
> *घोरातिघोरे नरके नयन्ति ।*

अर्थात्—(१) जूआ खेलना (२) मांस भक्षण करना (३) मदिरापान करना (४) वेश्यागमन करना (५) शिकार खेलना (६) चोरी करना और (७) परस्त्रीगमन करना, यह सात कुव्यसन मनुष्यों को घोर अतिघोर नरक में ले जाते हैं।

दुर्व्यसनों का फल अत्यन्त दारुण होता है। इसी कारण ज्ञानी जन पुकार-पुकार कर कहते हैं:—

> *जुआ खेलना मांस मद, वेश्या व्यसन शिकार ।*
> *चोरी पर-रमणी रमण, सातों व्यसन निवार ॥*

दुर्व्यसनों की विशेषता यह है कि इनके फंदे में फँसा मनुष्य बड़ा ही निर्लज्ज और बेभान बन जाता है। वह अपने कुल की निर्मल कीर्त्ति को कलंकित करने में तनिक भी नहीं हिचकता। अपने पूर्वजों के यश पर स्याही पोत देने में लेश मात्र भी संकोच नहीं करता। उसे सदुपदेश सुहाता नहीं, सत्परामर्श रुचता नहीं। उस पर एक प्रकार का मतवालापन छा जाता है। वह अपने अपमान से क्षुब्ध नहीं होता। तिरस्कार को नीची गर्दन करके सह लेता है। वह अपनी निज की दृष्टि में गिर जाता है। जो व्यक्ति अपने आपको स्वयं पतित समझ लेता है और अपने पतन से घृणा नहीं करता, उसका सुधार असंभव हो जाता है। इस कारण यह सातों दुर्व्यसन अत्यन्त दारुण और घातक हैं।

राजकुमार सुरसिंह, दुर्भाग्य से, कुसंगति के प्रताप से सातों कुव्यसनों का शिकार हो गया। मन्त्रीपुत्र, पुरोहितपुत्र और एक सेठ का पुत्र उसके साथी थे। यह चौकड़ी प्रायः साथ ही रहती थी।

एक दिन की बात है। चारों साथी सैर करने के लिए नगर के बाहर गये। वहाँ मक्का का एक खेत दिखाई दिया। चारों ने आपस में विचार किया और भुट्टे खाने का इरादा किया। इरादा करते ही चारों उस खेत में घुस गये और इस प्रकार भुट्टा तोड़ने लगे, मानों घर का खेत हो!

खेत का रखवाला मेड़ पर मौजूद था; मगर उससे पूछने की इन्हें क्या आवश्यकता थी? रखवाले ने सोचा—मुझसे

पूछकर यह लोग भुट्टा ले लेते तो कोई बात नहीं थी। मगर मेरी मौजूदगी में विना पूछे खेत में घुस जाना और नुकसान करना अनीति है। रखवाले की हैसियत से इन्हें रोकना मेरा कर्त्तव्य है। मगर यह बड़े आदमियों के लड़के हैं। इन्हें अपने बड़प्पन का अभिमान है। ये कहने से मानेंगे नहीं। जबर्दस्ती रोक नहीं सकता, क्यों कि यह चार हैं, मैं अकेला हूँ। फिर भी बुद्धिबल से इनकी अक्ल ठिकाने लाई जा सकती है।

रखवाले ने उपाय खोज लिया। वह साहस करके चारों के पास आया और चारों में फूट डालने के अभिप्राय से कहने लगा--राजकुमार! आज इस खेत का अहोभाग्य है। आपके चरणों से यह खेत पवित्र हो गया। आप पृथ्वीनाथ हैं तो यह खेत भी आपका ही है। प्रधानजी और पुरोहितजी भी हमारे सरदार हैं। मगर यह वनिये का लड़का चोरी करने क्यों आया है? यह किसानों से ड्योढा-दुगुना वसूल करके अपनी थैलियाँ भरता है!

किसान की बात सुनकर तीनों कुमार प्रसन्न हुए। बोले—ठीक कहते हो भाई पटेल, इसको भुट्टे तोड़ने का कोई अधिकार नहीं। इसके पास तो मुफ्त का माल आता है।

किसान की युक्ति कारगर हुई। तीनों ने उसे छिटका दिया। किसान ने पहले सेठ के लड़के की पूजा उतारी, फिर मचान के एक खम्भे से बाँध दिया।

तत्पश्चात् रखवाले ने राजकुमार से कहा—आप अन्न-दाता हैं। आपका दिया हम खाते हैं। प्रधानजी के कुंवर

आपके साथ हैं। परन्तु पुरोहित का लड़का यहाँ क्यों आया ? यह तो भीख माँग कर खाने वाला है ! इसे साथ लाकर आपने अच्छा नहीं किया।

मूर्ख राजकुमार और मंत्री-पुत्र यह सुनकर प्रसन्न हो गए। सोचने लगे—हम दोनों पर खेत वाला खुश है तो इससे हमें क्या मतलब ? वे बोले—ठीक है भाई, इसे भुट्टा तोड़ने का कोई अधिकार नहीं।

यह सुनकर किसान ने पुरोहित-पुत्र को भी पकड़ा और मचान के दूसरे खम्भे से ऐसा बांध दिया कि छूट न सके।

तीसरी बारी मंत्री-पुत्र की थी। किसान ने कहा—कुंवरजी, आप प्रजा के स्वामी हैं। मेरे मालिक हैं। परन्तु प्रधानजी के इस लड़के से मुझे क्या सरोकार है ? यह क्यों भुट्टे तोड़ रहा है ?

राजकुमार प्रसन्न होकर बोला—ठीक है भाई, तुम सच कहते हो। इसे भुट्टे नहीं तोड़ने चाहिए।

बस, किसान ने मंत्री के पुत्र को भी पकड़ा और मचान के तीसरे खम्भे से मज़बूत बाँध दिया।

अब रह गया अकेला राजकुमार। किसान ने ऐंठ कर उससे कहा—राजा होकर चोरी करते आपको शर्म नहीं आती ?

और किसान ने उसे भी पकड़ कर मचान के चौथे खंभे से जकड़ दिया।

चारों को बाँध कर किसान ने हल्ला मचाया—'दौड़ो, दौड़ो, मैं ने चोर पकड़े हैं !'

आसपास के बहुत-से लोग इकट्ठे हो गए। भीड़ लग गई। चारों लड़कों के अभिभावकों को पता लगा तो उन्होंने भी उनकी लानत-मलानत की। चारों अत्यन्त पछतावा करने लगे। सोचने लगे हम चारों ने एक दूसरे पर ईर्षा न की होती, चारों में एकता होती तो यह किसान हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता था। हमारी फूट ने हमें अपमानित किया, बेइज़्ज़त किया ! यह फूट का ही फल समझना चाहिए।

जिनदास ने सोहन सेठ से कहा—गुरुदेव ने बतलाया है कि एकता से सुख-शान्ति को प्राप्ति होती है।

अल्पानामपि वस्तूनां, संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥

नीतिकार कहते हैं. –

अर्थात्—अल्प और तुच्छ वस्तुओं का भी यदि संगठन कर लिया जाय तो वह कार्य साधक हो जाता है। जब तृण मिल कर रस्सा बन जाते हैं, तो उनमें बड़े-बड़े मदोन्मत्त हाथियों को भी बाँधने की शक्ति आ जाती है।

आवड़, जावड़ और खावड़-तीनों यह कहानी सुन रहे थे। फूट के कुफल की यह कथा सुन कर वे चुप रह गये। चुपचाप वहाँ से खिसक कर अपने-अपने काम में लग गये।

रात्रि में फिर वही झकझक। उनकी स्त्रियों ने पूछा--अलग होने के विषय में क्या निश्चय हुआ ? तब उन्होंने कहा—फूट में कुछ सार नहीं है। प्रेम के साथ हिल मिल कर रहो। इसी में सब की भलाई है।

फूहड़ और कर्कशा स्त्रियाँ यह उत्तर सुनकर तमक उठीं। कहने लगीं--तुम्हें बात करना नहीं आता। कल प्रातःकाल होते ही हम अलग हो जाएँगी। देखना हमारी करामात !

दूसरे दिन तीनों बहुएँ मिल कर सास के पास पहुँचीं। तीनों ने विकराल रूप धारण किया था। उनके चेहरे से ही पता लग सकता था कि आज वे पूरी तरह लड़ने-झगड़ने को तैयार होकर आई हैं। परन्तु उनकी सास ने उन्हें अत्यन्त मिठास के साथ बैठने के लिए कहा। वह बोली—माताजी, हम आपकी चिकनी-चुपड़ी बातों में नहीं आएँगी। भला चाहती हो तो हमें अभी, इसी समय अलग कर दो।

सास ने उन्हें समझाने का प्रयास किया। खूब प्रेम और शान्ति के साथ समझाया। परन्तु उन पर वही असर हुआ जो चिकने घड़े पर पानी छिड़कने का होता है।

सास और जेठानियों की बात सुनकर सुगुणी भी वहाँ जा पहुँची। सास ने उससे पूछा--आज व्याख्यान में क्या उपदेश सुन आई हो बेटी ! हमें भी सुनाओ।

सुगुणी ने अवसर देख कर एकता बढ़ाने के उद्देश्य से कहा--माताजी, आप धन्य हैं। आपका जीवन धन्य है !

आपकी धर्मकथा सुनने की इतनी गाढ़ी रुचि है ! आज गुरुजी ने कहा था:—

संप थकी लक्ष्मी रहे, संपथी कुल शोभाय।
इह भव पर भव सुख लहे, संप सदा सुखदाय॥

संप अर्थात् एकता का फल बतलाने के लिए उन्होंने एक दृष्टान्त दिया था। वह इस प्रकार है:—

चित्रशाल नगर में जितशत्रु नामक शक्तिशाली राजा थे। इसी नगर में धनदत्त नामक एक सेठ रहते थे। उनकी पत्नी का नाम पुष्पोत्तरा था। धनदत्त बड़े पुत्रवान् थे। उनके पन्द्रह पुत्र थे और सभी बुद्धिमान्, विनयवान् तथा विचारवान् थे। सभी पुत्रों का अपने योग्य सदृश कुल में विवाह हुआ। पन्द्रह पुत्रों की पन्द्रह वधुएँ आईं। यथासमय उनकी भी सन्तान हुई। इस प्रकार धनदत्त सेठ का परिवार बहुत विशाल हो गया।

धनदत्त के घर में बहुत धन नहीं था। अन्तराय कर्म के उदय से आय भी ज्यादा नहीं थी। इधर परिवार बड़ा होने से खर्च बहुत बढ़ गया था। खर्च करने मे सेठ बहुत सावधान थे; एक पाई कभी वृथा नहीं खर्चते थे, फिर भी खर्च काफी हो ही जाता था। इतना होने पर भी इस परिवार की एक बड़ी विशेषता थी। वह यह कि उस परिवार में पारस्परिक प्रेम अपरिमित था। भाई-भाई में, देवरानी-जिठानी में, सास-बहू में गाढ़ी प्रीति थी। सब लोग मिल-जुल कर उद्यम करते थे

और एक साथ रहने में आनन्द एवं सन्तोष का अनुभव करते थे। सभी धनदत्त सेठ की आज्ञा प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करते थे।

सन्ध्या-समय धनदत्त सेठ अपने परिवार को एकत्र करते और पारस्परिक प्रेम, ऐक्य एवं संगठन की उपयोगिता समझाते थे। वह कहा करते-परिवार में विभिन्न शक्तियों वाले सदस्य होते हैं। किसी में एक शक्ति होती है, किसी में दूसरी। जिसमें जो शक्ति हो, उसे उस शक्ति का अभिमान नहीं करना चाहिए। शक्ति से दर्प नहीं, नम्रता आनी चाहिए। नम्रता से अनेक लाभ होते हैं। नम्र व्यक्ति के सामने सारा जगत् वशीभूत हो जाता है। दुर्जन भी सज्जन बन जाता है। नम्र मनुष्य सब का प्रेमपात्र बनता है। उसकी शोभा बढ़ती है।

पुण्य के योग से बहुत जनों का योग मिलता है। बहुत मिलकर अगर थोड़े हो जाएँ तो अशुभ कर्म का उदय समझना चाहिए। बहुत से कोयले मिल कर लोहे को भी पानी बना देते हैं। इसी प्रकार बहुत लोग यदि मिल-जुल कर रहते हैं तो दुश्मन भी पानी हो जाता है। कहा भी है:—

हैं प्राण लेती सर्प के भी संप कर कीड़ी अहो,
यदि संप-युत होवें मनुज तो क्या न कर सकते कहो?
देखो विदेशी राज्य करते एकता के भाव से,
ठोकरें खाते हो उनकी आप तो तद्भाव से ॥

सेठ धनदत्त के इस प्रकार के उपदेश के प्रभाव से उनके

परिवार में गम्भीर प्रेम और सुदृढ़ एकता थी। सभी लोग एक दूसरे के सुख को देख कर प्रसन्न होते थे।

दुर्भाग्य से धनदत्त सेठ का धन समाप्त हो गया। आय भी लगभग बन्द हो गई। नौबत यहाँ तक आ पहुंची कि इस वृहत् परिवार को पेट भर खाने के लाले पड़ गए। ऐसी विषम स्थिति में भी उनमें से कोई किसी को छोड़ना नहीं चाहता था। कोई बाहर जाना पसन्द नहीं करता था। सब यही सोचते थे कि सुख–दुःख साथ रह कर ही भोगेंगे, पर अलग न होंगे। दुःख के इस अवसर पर भी उन्हें सम्मिलन का अपूर्व सुख प्राप्त था।

एक आपत्ति अनेक आपत्तियों को साथ लेकर आती है। यहाँ भी यही हुआ। धनदत्त के बाड़े की एक दीवार एक दिन गिर पड़ी। उनके पास इतना पैसा नहीं था कि मज़दूर बुलवा कर उनसे दीवार खड़ी करवा लेते। दीवार का उसी प्रकार पड़ा रहना भी योग्य नहीं था। सेठजी सोचने लगे—यह नयी विपत्ति कहां से आ पड़ी! क्या उपाय करना चाहिए? शान्त चित्त से विचार करने पर प्रत्येक समस्या का समाधान प्राप्त हो ही जाता है। सेठ ने सोचा—जो कार्य मजदूर कर सकते हैं, उसे हम स्वयं क्यों नहीं कर सकते? हमारे भी दो हाथ हैं। फिर हमें पराश्रयी क्यों बनना चाहिए?

बस, यह विचार आते ही धनदत्त ने अपने लड़कों से कहा—पुत्रो! जुट पड़ो दीवार उठाने में। हम सब मिल कर चुटकियों में काम पूरा कर डालेंगे। दूसरों का मुँह क्यों ताकें?

धनदत्त सेठ का आदेश सुनते ही उनके सब लड़के तैयार हो गए। किसी ने कुदाल सँभाला, किसी ने कुशी उठाई। किसी ने कुछ और किसी ने कुछ उठाया। कोई मिट्टी खोदने लगे, कोई मिट्टी उठाने लगे। नींव खोदते-खोदते, जरा गहराई आई तो कुदाल पड़ते ही खन-खन की आवाज़ आई। जिस लड़के ने यह आवाज़ सुनी थी, उसने सेठजी को बुलवाया और कहा--पिताजी ! यहां कोई चीज़ जान पड़ती है। खन्-खन् की आवाज़ आती है। देखिए न, कुछ चमक भी दिखाई देती है।

सेठजी ने उत्सुकता के साथ आंखें गड़ा कर देखा तो सचमुच ही उन्हें धातु चमकती दिखाई दी। फिर क्या था ! जो खुदाई की गई तो खजाना निकल पड़ा। एक कलश निकला, जिसमें स्वर्ण-मुद्राएँ भरी थीं। उसके नीचे भी और कलश थे। सेठजी ने दूसरा और तीसरा कलश भी निकाल लिया। फिर देखा तो और भी द्रव्य था। पर उन्होंने सोचा--इतना ही बहुत है। अधिक लोभ विनाश का कारण होता है। कहा भी है:—

अतिलोभो न कर्त्तव्यः, अतिलोभो दुःखदायकः।
अतिलोभप्रसादेन, बहवो मरणं गताः॥

अर्थात्—अधिक लोभ करना योग्य नहीं। अधिक लोभ करने से अत्यन्त दुःख होता है। अत्यन्त लोभ के प्रसाद से बहुतों ने अपने प्राण गँवा दिये।

इस प्रकार विचार करके धनदत्त सेठ ने शेष खजाने को

मिट्टी से दबा दिया उन्होंने सोचा--हमारा भाग्य अनुकूल हुआ है जो यह निधि प्राप्त हो गई!

सच है——जहाँ संप है, वहाँ सुख है। पुण्यवान् जीवों को ही संप प्यारा लगता है। संप के प्रभाव से रूठी हुई लक्ष्मी भी लौट आती है।

इसी चित्रशाल नगर में स्वर्ग शाह नामक एक धनाढ्य सेठ रहते थे। उनका परिवार भी बड़ा था, अतएव उन्होंने रहने के लिए एक विशाल हवेली बनवाई थी। वह हवेली बाजार के बीच में थी। धनदत्त सेठ ने उस हवेली को खरीदने का विचार किया। सोचा-बनी-बनाई जगह है, आरंभ-समारंभ भी नहीं करना पड़ेगा। वह मेरे परिवार के लिए साताकारी भी है। सब लोग उसमें आराम से रह सकेंगे। कीमत की चिन्ता नहीं, किसी प्रकार हाथ आना चाहिए। यह सोचकर सेठ धनदत्त, स्वर्ग शाह के पास पहुँचे। उनसे कहा—आप बड़े आदमी हैं। आपके पास अनेक हवेलियाँ हैं। यह जो नवीन हवेली बनवाई है, वह हमें दे दीजिए। उसका उचित मूल्य मैं दे दूंगा।

स्वर्ग शाह मन ही मन हँस कर सोचने लगे—कौड़ी पास नहीं है और चले हैं हवेली खरीदने! इतने बड़े मोल की हवेली यह कैसे खरीदेगा? हमारा मन लेने के लिए यह ऐसा कह रहा जान पड़ता है।

प्रकट में स्वर्ग शाह बोले—शाहजी, आप खरीदना चाहते हैं तो खरीद लीजिए। मैं खुशी से दे दूंगा।

धनदत्त—तो कीमत कह दीजिए। अभी ला दूंगा।

स्वर्ग शाह ने हँसी समझ कर थोड़ी कीमत बतलाई। धनदत्त ने बात पकड़ ली। सयाने, समझदार और प्रतिष्ठित पाँच पुरुषों को साक्षी बनाकर वह द्रव्य लेने के लिए घर चले गये और द्रव्य ले आये।

स्वर्ग शाह यह देखकर बुरी तरह घबरा उठे। बोले—अजी, मैं ने तो हँसी हंसी में बात कही थी। हवेली बेचने को थोड़े ही बनवाई है!

साक्षी बोले—नहीं सेठजी, अब यह न होगा। कह कर बदलना योग्य नहीं। कीमत ले लो और हवेली इनको सौंप दो।

स्वर्ग शाह प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। अतएव पश्चात्ताप करते हुए भी उन्हें कीमत लेकर हवेली देनी पड़ी। धनदत्त को सस्ते मोल पर सुन्दर हवेली हाथ लग गई। वह अपने परिवार के साथ उसमें रहने लगे।

धनदत्त सेठ जानते थे कि संसार का यह वैभव संसार में ही रहने वाला है। इसे कोई मनुष्य साथ नहीं ले जा सकता। अतएव कृपणता करके धन की सुरक्षा करना, दान और भोग करके उसका उपयोग न करना, योग्य नहीं है। अतएव वह उदारता पूर्वक धन खर्च करते थे। अपने परिवार को नये-नये वस्त्र, आभूषण बनाते, खाते, खिलाते और सुकृत्य में लगाते थे। उन्होंने सब को यथेष्ट खर्च करने की छूट दे रक्खी थी।

इस कारण धनदत्त सेठ अपने नगर में सर्व प्रिय हो गये थे। उनका सर्वत्र मान-सन्मान होता था। कहा है:—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति ॥

अर्थात्—जिसके पास धन है, वह सर्वगुणसम्पन्न बन जाता है। वह कुलीन न होने पर भी कुलीन समझा जाता है, मूर्ख होने पर भी विद्वान् माना जाता है, शास्त्रज्ञ समझा जाता है; उसे वक्ता और दर्शनीय पुरुष जान कर लोग उसका आदर करते हैं।

धनदत्त सेठ तो स्वयं गुणवान् भी थे, अतएव उनका आदर होना स्वाभाविक ही था। उनका सारा परिवार प्रसन्न रहता और परिवार की प्रसन्नता देख कर वह भी प्रसन्न रहते थे। समस्त परिवार में प्रगाढ़ एकता का भाव था। सब का भोजन एक ही जगह होता था।

धन न साथ आया है, न साथ जायगा। पुण्य के योग से उसकी प्राप्ति हुई है, अतएव पुण्योपार्जन में उसका व्यय करके भविष्य को अच्छा बना लेना ही बुद्धिमत्ता है। कई लोग लक्ष्मी का पुत्री के समान पालन-रक्षण करते हैं। वे उसे भूमि में गाड़ देते हैं। वह लक्ष्मी उनके काम नहीं आती। कोई दूसरा ही उसका मालिक बनता है। गाड़ने वाला उसे गड़ी हुई छोड़ कर ही परभव में चला जाता है।

कई लोग लक्ष्मी का पत्नी के समान उपभोग करते हैं। वे यथेष्ट दान भी करते हैं। दान देने से लक्ष्मी परभव में भी साथ जाती है, जैसे सती अपने पति के पीछे जाती है। हाँ, लक्ष्मी का उपयोग करते समय इस बात का विचार अवश्य करना चाहिए कि अनीति, अधर्म एवं पाप में उसका व्यय न हो।

सेठ धनदत्त इस तरह का उपदेश दिया करते थे। इससे उनका परिवार अनीति से बचा रहता था। खूब दया-दान किया करते थे। उन्होंने सब प्रकार के हिंसक व्यापारों का त्याग कर दिया था। मिथ्या आडम्बर से भी वह दूर रहते थे। निरर्थक व्यय नहीं करते थे। सेठ धनदत्त का समस्त परिवार गहरी निष्ठा के साथ उनकी आज्ञा पालन करता था। सब एकता के सूत्र में आबद्ध थे।

× × × ×

सुगुणी गुरुजी के मुख से सुनी हुई कथा अपनी सासू को सुनाती हुई आगे कहने लगी—उसी चित्रशाल नगर में एक महाकंजूस वणिक् रहता था। उसका नाम श्रीपाल था। उसने नाना प्रकार के अकृत्य कर्म करके बारह करोड़ का धन संचित कर लिया। वह रूखा-सूखा भोजन करता था। मोटे और फटे-पुराने कपड़े पहनता था। घोर कष्ट पूर्वक जीवन यापन करता था। पैसा उसके लिए प्राणों का भी प्राण था। परमेश्वर से भी बड़ा था।

एक बार श्रीपाल ने विचार किया—मैं ने घोर से घोर

कष्ट सहन करके इतना धन संचित किया है। मैं मर जाऊँगा तो कोई दूसरा इसका उपभोग करेगा। अतएव मुझे ऐसा कोई उपाय करना चाहिए कि इसे कोई और न ले सके। इस प्रकार विचार करके उसने जंगल में जाकर, एक वटवृक्ष के नीचे अपना धन गाड़ दिया।

थोड़े दिनों बाद श्रीपाल चल बसा। जीवन के अन्तिम क्षणों में भी उसे परमात्मा का नाम स्मरण नहीं आया। वट-वृक्ष और उसके नीचे गड़ा धन ही उसकी आँखों के सामने रहा। वह अकाम निर्जरा के कारण मर कर असुर रूप में उत्पन्न हुआ। असुर होकर उसने अवधिज्ञान से अपना धन देखा और तत्काल वहीं आ गया। अब वह उसी वटवृक्ष के आसपास रहता था। दुःखों को भी सुख समझकर धन की रक्षा कर रहा था।

एक बार असुर और लक्ष्मी आकाश में चले जा रहे थे। धनदत्त सेठ का मकान आया। तब असुर ने लक्ष्मी से कहा—इस संसार में कौन है जो तुम्हारी (लक्ष्मी की) अभिलाषा न करता हो? कोई विरला ही होगा जो न चाहता हो। मगर तुम्हारा ढंग अनोखा है। जो चाहता है उसके पास जाती नहीं और जो नहीं चाहता उसी पर तुम्हारी कृपा होती है। जो तुम्हारी उपेक्षा करता है, तुम जबर्दस्ती उसके गले पड़ती हो। इस घर में (धनदत्त के घर में) कोई तुम्हारी परवा नहीं करता। सब ठोकरें मार-मार कर ठेलते हैं। पानी की तरह बहाते हैं। फिर भी तुम यहाँ क्यों रहती हो? यह घर तुम्हें क्यों प्यारा लगता है?

लक्ष्मी बोली—इस घर में संप है, पारस्परिक प्रेम है, एकता है; इसी कारण मैं यहाँ रहती हूँ।

असुर—सो कैसे ? जरा स्पष्ट करके समझाओ।

लक्ष्मी—यह बात मैं तुम्हें आज रात्रि में समझा दूंगी।

आधी रात्रि व्यतीत हो चुकी थी। लक्ष्मी सेठ धनदत्त के पास आई। वह नारी के सुन्दर वेष में थी। आकर उसने सेठ से प्रश्न किया—सेठजी, सोते हो या जागते ?

सेठ—मैं सोता हुआ भी जागता हूँ; पर तुम कौन हो ? किस प्रयोजन से यहां आई हो ? इस अर्ध-रात्रि के समय कोई महिला अपना घर छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाती। तुम इस समय कैसे आईं ?

लक्ष्मी—मैं लक्ष्मी हूँ। तुम्हारे घर का रंग-ढंग देखकर चेतावनी देने आई हूँ देखती हूँ, तुम्हारे यहां मेरी कोई सार-सँभाल नहीं, कोई परवाह नहीं। मेरे लिए बड़े-बड़े भूपति युद्ध में जूझते हैं, अपने स्वजनों और सैन्य का भोग देते हैं और मुझे रखने को लालायित रहते हैं। बड़े बड़े सेठ साहूकार लोग अनेक अकृत्य करते हैं, भूख-प्यास एवं सर्दी-गर्मी के कष्ट सहन करते हैं, दिन को दिन और रात को रात नहीं गिनते। वे मुझे प्राणों के समान सँभाल कर रखते हैं। कोई डिबिया में रखते हैं, कोई पिटारे में रखते हैं, कोई तिजोरी में रखते हैं। मेरी रक्षा के लिए ताले और पहरे का प्रबन्ध करते हैं। कोई-कोई धरती खोद कर उसमें मुझे विराजमान कर देते हैं। लोग

धूप-दीप रख कर मेरी पूजा-अर्चा करते हैं और स्थिर रहने के लिए गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करते हैं। दीपावली के दिन, मेरे पदार्पण की आशा से, मेरे स्वागत के लिए अद्भुत साज सजाये जाते हैं। घरों को लीपते-पोतते हैं और रंगबिरंगी रोशनी करते हैं। परमात्मा से भी अधिक मेरी भक्ति करते हैं, मेरा ध्यान करते हैं। व्यापारी जन मेरी उपासना के लिए अपने बूढे माँ-बाप को और परिणीता तरुणी को तरसती छोड़कर देश-विदेश जाते हैं। माल का संग्रह करते हैं। पुण्य-पाप का भान भी भुला देते हैं। असंख्य-अनत प्राणियों के घात का पाप भी अपने मत्थे चढ़ाते हैं। कुल की कीर्त्ति को कलक भी लगाते हैं!

सेठ! मेरा साहचर्य प्राप्त करने के लिए कोई खेती करते हैं, कोई खाने खोदते है, कोई पत्र पुष्प फल बेचते हैं, कोई घोर पापमय शिकार तक करते हैं। अनेक लोग मेरी कृपा प्राप्त करने के लिए दूसरों के गुलाम बनते हैं, गालियाँ खाते हैं, अपमान सहन करते हैं, पशु की भांति भार-वहन करते हैं, गाँव-गाँव भटकते फिरते हैं।

मेरे अनेक भक्त, मेरी प्रसन्नता के लिए निर्बलों की हत्या कर डालते हैं, कई सज्जनों का वध करने में भी संकोच नहीं करते। यहाँ तक कि कोई अपनी खोपड़ी को भी चीर लेते हैं। कई कृतघ्न बनते हैं। मेरी उपासना के लिए कितने ही तपस्वी तपस्या करते हैं, कितने ही ज्ञानी गीत गाते हैं, कितने ही लोग दीनता दिखलाकर गली-गली में भीख माँगते फिरते हैं।

धनदत्त! शूरवीर योद्धा किसलिए संग्राम में अपना सिर

फटकाते हैं ? मेरे लिए ही तो। नट डोर पर नाचता है और अपने प्राणों को खतरे में डालता है। वह भी मेरे लिए ही यह करता है।

इस प्रकार संसार में प्राणी मात्र मेरी उपासना में लगा हुआ है। कोई विरला ही होगा, जिसे मेरी अभिलाषा न हो। लोगों के करोड़ों प्रयत्न करने पर भी मैं उनके पास नहीं फटकती। परन्तु धनदत्त ! तुम्हारा अहोभाग्य है कि तुम्हारे प्रयत्न के बिना ही मैं तुम्हारे घर आकर निवास कर रही हूं। लोग वचन से परमात्मा को बड़ा कहते हैं, परन्तु मन से मुझे उससे भी बड़ा मानते हैं। मनुष्य मात्र मेरा पुजारी है, मैं उनके यहाँ न जाकर तुम्हारे घर आई हूँ, परन्तु तुम मुझे ठुकरा रहे हो ! खर्च का विचार तक नहीं करते। मेरी रक्षा का कुछ प्रबन्ध भी नहीं करते।

सेठ, मैं तुम्हारे यहाँ रह कर पर्याप्त अपमान सहन कर चुकी हूँ। मेरा मन भर चुका है। आज तुम्हें यही सूचना देने आई हूँ कि मैं इस घर में नहीं रहूँगी, रखना चाहोगे तो भी नहीं। चेतावनी देकर कोई काम करने से धोखेबाज़ी का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। यही सोचकर मैं ने तुम्हें अपना अभिप्राय बतला दिया है।

लक्ष्मीजी का यह वक्तव्य सुन कर सेठ धनदत्त बोले— अच्छी बात है देवी; प्रातःकाल होते ही तुम्हें जमीन में गहरा गड्ढा खोदकर दबा दूंगा। फिर तो प्रसन्न रहोगी ?

लक्ष्मी को रोष आ गया। तमतमा कर बोली—क्यों ? मैं क्या कूड़ा-कचरा हूँ या पाषाण हूं ?

सेठ—नहीं, वहाँ तुम शान्ति से रह सकोगी।

लक्ष्मी—हर्गिज़ नहीं, करोड़ यत्न करने पर भी मैं तुम्हारे यहाँ नहीं ठहर सकती मैं चली जाऊँगी।

सेठ—जाना ही चाहती हो तो जा सकती हो। मुझे इसकी कुछ भी चिन्ता नहीं। तुम सौभाग्य से आती हो और दुर्भाग्य से चली जाती हो। तुम्हारा आना-जाना स्वयं तुम्हारे हाथ में नहीं है। फिर मैं भलीभांति जानता हूँ कि तुम स्वभाव से ही चपला हो। तुम्हारे ऊपर भरोसा करने वाले को अन्त में पश्चात्ताप ही करना पड़ता है। मैं तुम पर नहीं, भगवान् पर भरोसा रखता हूँ। हमें चाहिए क्या ? अन्न और वस्त्र। सो हम सब मिलकर, सम्प रख कर किसी प्रकार प्राप्त कर ही लेंगे।

सेठ का टका-सा उत्तर सुनकर लक्ष्मी रूठ गई। सोचने लगी—मैं किसके घर जाऊँ, जहाँ मेरा खूब आदर-सत्कार हो ?

लक्ष्मी वहाँ से चलकर सीधी राजमहल में पहुंची। वहां पहुंच कर उसने देखा—यहां बहुत अन्याय और अकृत्य होते हैं। निपूतों का धन हरण करके राज-भाण्डार में रख लिया जाता है। मैं यहां रहूँगी तो खोटे कर्मों में लगूंगी। यहां रहना योग्य नहीं।

लक्ष्मी वहां से चलकर ब्राह्मण के घर पहुँची। वहां उसने देखा—यहां मृतकों का धन इकट्ठा किया जाता है। ब्राह्मण

अनेक जीवों के प्राण होमता है। खर्च करने में बहुत कृपण है। यहां भी मैं नहीं रह सकती।

तब लक्ष्मी वणिक् के घर गई। वहां देखा—इस घर में कपट का दौर-दौरा है। यहां नाप-तोल के बांट आदि झूठे रक्खे जाते हैं। एक-एक कौड़ी के लिए अनर्थ किया जाता है। यहां रहना भी मेरे लिए उचित न होगा।

लक्ष्मी सोचने लगी—तो कहाँ जाऊँ? किसान के घर जाऊँ? परन्तु वहाँ आरम्भ-समारम्भ बहुत है। वह मेरा सदुपयोग करना भी नहीं जानता। उसके घर जाने से क्या लाभ है?

इस प्रकार लक्ष्मी सारे नगर में फिर आई, परन्तु उसे कोई सुखद स्थान नहीं मिला। उसे सब घर पापों के अड्डे दिखाई दिये। उसका मन कहीं भी आकर्षित नहीं हुआ। उसे प्रतीत हुआ कि धनदत्त सेठ के घर में जैसी एकता है, जैसा मेल-जोल है, अन्यत्र कहीं नहीं है। वह धार्मिक है, उदार-हृदय है। उसकी तुलना में दूसरा कोई परिवार नहीं टिक सकता।

यह सोचकर लक्ष्मी फिर धनदत्त के घर लौट आई। इस बार वह सेठ के पास न जाकर उनके ज्येष्ठ पुत्र के पास गई। बोली—कुंवरजी, जागते हो कि सोते हो?

कुंवर ने कहा—मैं सोता हुआ भी जागता हूँ। पर तुम्हें मुझसे क्या प्रयोजन है? सेठजी का कमरा आगे है।

लक्ष्मी—मैं तुम्हें सुखी करने, तुम्हारे ही पास आई हूँ।

तुम ढङ्ग से रखना चाहो तो मैं रहने को तैयार हूं। सेठजी मुझे नहीं रखना चाहते। इस कारण तुम्हें सावधान करने आई हूं। सोच लो, संसार में समस्त सुखों का मूल लक्ष्मी है। न रखना चाहो तो आगे जाऊँ!

सेठजी के ज्येष्ठ पुत्र ने कहा—आप प्रसन्नता पूर्वक पधारिए देवीजी, जिसे मेरे पूज्य पिताजी परित्याग कर चुके हैं, उसकी अभिलाषा करना मैं पाप मानता हूँ।

लक्ष्मी धनदत्त सेठ के परिवार की एकता और महत्ता और अधिक समझ गई। वह इस परिवार का संप देख कर लट्टू हो गई। तथापि अधिक परीक्षा करने के लिए वह दूसरे पुत्र के पास गई। उससे भी वही सब कहा जो ज्येष्ठ पुत्र से कहा था। उसने उत्तर दिया—मेरी निद्रा में व्याघात न करो। मैं कुछ नहीं जानता। मैं पिताजी के आदेश-पालन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं समझता।

लक्ष्मी ने भीतर से प्रसन्न होकर दिखावटी ढग से कहा—तुम्हारे पिता मुझे घर से निकाल रहे है। मेरे जाने से तुम सब दुखिया हो जाओगे। दुधमुँहे बच्चे नहीं हो, जरा सोच देखो।

यह सुन कर वह बोला—आप पधार ही जाइए। जो मेरे पिताजी के पास नहीं रह सकती, वह मेरे पास भी नहीं रह सकती।

लक्ष्मी तीसरे पुत्र के पास गई तो उसने बात चीत करने

से साफ इंकार कर दिया। चौथे ने कहा- निकल जाओ मेरे कमरे से !

इस प्रकार लक्ष्मी ने सब लड़कों और पोतों के समीप जाकर परीक्षा कर ली। वह किसी के मन में विकार उत्पन्न न कर सकी। सेठ धनदत्त के प्रति सब के मन में जो अखण्ड और असीम श्रद्धा थी, लक्ष्मी उसे भंग करने में समर्थ नहीं हो सकी। तत्पश्चात् वह सेठानी और पतोहुओं के पास पहुँची। परन्तु वहाँ भी उसे निराश होना पड़ा। लक्ष्मी के प्रलोभन में पड़ कर कोई अपने परिवार को एकता को भग करने के लिए तैयार न थी।

अब लक्ष्मी एकान्त में जाकर विचार करने लगी-क्या करना चाहिए ? इस घर का छूटना तो अत्यन्त कठिन है ! अगर सेठ के सिर पर विपत्ति आ पड़े तो संभव है, इनकी एकता भंग हो जाय।

यह सोच कर लक्ष्मी फिर धनदत्त के पास पहुँची। बोली—सेठजी, सोते हो या जागते ?

सेठ जागता हूँ। तुम कौन हो ? किस लिए यहाँ आई हो ?

लक्ष्मी—मैं वही जगत् की अद्वितीय मोहिनी लक्ष्मी हूँ।

सेठ-अरे, तुम तो रूस कर चली गई थीं न ? फिर कैसे आई ?

लक्ष्मी—सेठजी, मुझे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं।

यह बतलाओ कि यह धनसम्पत्ति किसकी है ? यह हवेली किसकी है ?

सेठजी सत्यवादी थे और परमार्थ को समझते थे। अतएव उन्होंने कहा—यह सब सामग्री तुम्हारे ही प्रसाद का फल है।

लक्ष्मी—तो मैं घर छोड़ूँ या तुम छोड़ो ? यहाँ की सब वस्तुएँ मेरी हैं। मेरा घर छोड़ दो और भला चाहो तो अभी-अभी बाहर निकल जाओ।

सेठजी अँगड़ाई लेकर उठ खड़े हुए। कमरे से बाहर निकले। उन्होंने आवाज़ देकर सब को जगा दिया। सेठजी की आवाज़ सुन कर सब घर वाले एकदम उठ गये। जो न उठे उन्हें दूसरों ने उठा दिया। सब मिल कर सेठ के पास पहुँचे और हाथ जोड़कर आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। सेठ ने कहा—सब इनके गहने उतार कर रख दो। यह सुनते ही सब ने गहने उतार कर फैंक दिये। ऐसी लापरवाही से फैंके कि टूटने-फूटने की भी चिन्ता नहीं की। ऐसे करने में किसी का मन मैला नहीं दिखाई दिया। यही नहीं, सब के चेहरे प्रसन्न थे—मानों कोई खेल खेल रहे हों। कोई कहने लगा—बहुत दिनों से यह बोझ लाद रक्खा था, अच्छा हुआ कि आज इनसे पिण्ड छूट गया। शरीर के साथ हृदय भी हल्का हो गया। चिन्ता दूर हुई। इस प्रकार सब ने अपने-अपने आभूषण उतार दिये। अब किसी के पास तीन वस्त्रों से अधिक नहीं बचे थे।

लक्ष्मी खड़ी-खड़ी यह तमाशा देख रही थी और अतीव विस्मित होकर सोच रही थी—इस परिवार के सभी नर-नारी निराले हैं। सभी धन के लिए तरसते हैं। स्वजन परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं पैसे के लिए अपने भी पराये हो जाते हैं। माता पुत्री से, सासू बहू से, बाप बेटा से लड़ता है। मुकदमे-बाजी होती है। कुल की कीर्त्ति को लजाते हैं। लोग शस्त्र से, अग्नि से और विष से मरते-मारते हैं। सभी लोग धन को प्राणों से अधिक चाहते हैं। मगर आश्चर्य है कि यहाँ यह बात नहीं है। सेठ का एक इशारा होते ही सब ने धन का ऐसा त्याग कर दिया, मानो उसका कोई मूल्य ही नहीं है!

लक्ष्मी इस प्रकार विस्मय के सागर में गोते लगा रही थी कि उसी समय सेठ ने आदेश दिया—अच्छा, अब सब मेरे पीछे-पीछे चलो। इस घर को त्याग देना होगा।

धनदत्त चल पड़े और उनके पीछे-पीछे सब परिवार भी चल पड़ा। किसी ने हवेली का द्वार भी बन्द करने की आवश्यकता न समझी।

सब लोग नगर की शोभा देखते जा रहे थे। उसी में सब का मन लगा था। सर्वस्व त्याग देने का किसी को विचार तक नहीं आ रहा था। वे लोग जब नगर के बाहर थोड़ी दूर पहुंचे तो दिवाकर का तेज दिखलाई पड़ने लगा। धूप से सुकुमार रमणियाँ और मृदुलगात बालक कुम्हलाने लगे। उनके चेहरे देख कर धनदत्त सेठ को गहरी चिन्ता हुई। वह सोचने लगे—अभी-अभी पहर दिन चढ़ आएगा और सब भूख से घबरा
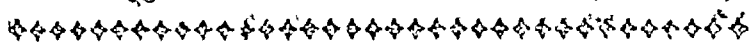
उठेंगे। बड़े समझ जाएँगे, पर अबोध बालकों को क्या कह कर समझाया जायगा? उनकी भूख किस प्रकार रोकी जायगी? वे खाने को माँगेंगे तो कहाँ से लाऊँगा?

सेठ इस प्रकार सोचते जा रहे थे कि राह में जल से भरा एक नाला मिला। उस नाले के आसपास अपने आप उगी मूंज खड़ी थी। उसे देखकर सेठ को सहसा सूझा—अगर मूंज तोड़ कर इसके रस्से बना लिये जाएँ और रस्सों को बाजार में बेच दिया जाय तो कुछ दाम मिल जाएँगे और उनसे आज के भोजन का काम चल जायगा।

सेठ ने अपना विचार लड़कों को बतलाया। लड़के मूंज तोड़ने में जुट पड़े। पहले कभी ऐसा काम किया नहीं था। अतएव उनके मन में बड़ी भारी उमंग थी। वे झटपट मूंज तोड़ लाये और पास ही खड़े एक वट वृक्ष के नीचे ढेर लगा दिया। सेठ ने रस्सा बनाने की विधि बतलाई। सब हाथों-हाथ काम में जुट पड़े। सेठ की चिन्ता दूर हो गई। उन्होंने समझ लिया कि इस प्रकार अपने पैरों पर खड़े होने वाले और स्वयं श्रम करने वाले मेरे लड़के कभी भूखे नहीं रहेंगे। वह लड़कों से कहने लगे—श्रम का महत्त्व न समझने वाले, आलसी, कायर और बड़प्पन की झूठी शान में ऐंठने वाले मूर्ख लोग ही भूखे मरते हैं। मर्दानगी के साथ प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने वाले कर्मठ पुरुष कभी परावलम्बी नहीं होते और कभी कष्ट भी नहीं पाते। जीवन खेल है। एक ही प्रकार का खेल खेलते खेलते जी ऊब जाता है। एक ही तरह का जीवन भी

नीरस बन जाता है। उसमें सरसता और रमणीयता लाने के लिए कुछ विविधता चाहिए। यह भी लक्ष्मी की कृपा समझो कि उसने हमारे जीवन में नूतनता ला दी है। पुत्रों, तुम कष्ट का अनुभव तो नहीं करते ?

सब ने एक साथ उत्तर दिया—नहीं पिताजी, बल्कि आनन्द का अनुभव हो रहा है। ऐसा लगता है कि आज कारागार से मुक्त होकर स्वाधीनता की सांस ले रहे हैं। आज जीवन की वास्तविकता लक्षित हो रही है। लगता है, जैसे मुर्दा जीवन में आज प्राणों का संचार हुआ है।

× × × ×

उधर लक्ष्मी, असुर से कहने लगी–देखा यह तमाशा ? ऐसी एकता आज तक मैंने दूसरे घर में नहीं देखी। इसी कारण तो मैं इस घर की बंदिनी हो रही हूँ। कितनी सरलता से, धनदत्त का इशारा होते ही, छोटे-बड़े सब, सर्वस्व छोड़ कर चलते बने ? किसी के चेहरे पर एक सिकुड़न भी न आई। किसी ने जरा भी आनाकानी नहीं की। दूसरा घर होता तो क्या यह संभव था ? लड़के कह देते–बूढ़े की बुद्धि मारी गई है ! हम इसका साथ नहीं देते। कदाचित् लाज–शर्म से प्रेरित लड़के साथ देने को तैयार हो जाते तो उनकी पत्नियाँ उन्हें नोच डालतीं। कहतीं–इन बच्चों को भिखारी बनाने के लिए हम तैयार नहीं हैं ! पर धन्य है धनदत्त सेठ का परिवार ! जहाँ ऐसी प्रीति हो, एकता हो, संगठन हो, वहाँ लक्ष्मी न रहेगी तो कहाँ रहेगी ? अब मुझे यह चिन्ता लग रही है कि यह मकान किसे

सौंपा जाय ? कोई सुपात्र ही दिखाई नहीं देता।

असुर अपने आवास-वटवृक्ष पर आया। सेठ धनदत्त संयोगवश इसी वटवृक्ष के नीचे अपने परिवार के साथ बैठे थे। असुर उन्हें देख कर अतीव आश्चर्यान्वित हुआ। उसने सोचा—यह यहाँ आकर क्यों बैठा है ? किस विचार से क्या कर रहा है ? कहीं लक्ष्मी ने मेरे साथ धोखा तो नहीं किया है ! मेरी सम्पत्ति लूटने की कोई साजिश तो नहीं हो रही है ? मनुष्य जाति बड़ी करामाती होती है ! मुझे प्रकट होकर जाँच-पड़ताल करनी चाहिए।

तत्काल असुर ने मानव का तन धारण कर लिया। वह सेठ के पास आकर पूछने लगा—सेठजी इसमें बैठने का काम कैसे आरंभ किया है ? क्या विपत्ति सिर पर आ पड़ी ?

सेठ ने उत्तर दिया—क्या करें भाई, हमें भूत जो लगा है !

सेठ के मुख से 'भूत' शब्द सुनते ही भूत थर-थर काँप उठा। डरता-डरता हाथ जोड़ कर बोला—मगर भूत ने अपराध क्या किया है ?

वणिक् बड़े चतुर होते हैं। चेहरे से ही अन्तस्तल का भाव पहचान लेते हैं। सेठजी ने भूत का चेहरा देख कर भाँप लिया—यह कोई भूत विदित होता है। अन्यथा इसके भयभीत होने का क्या कारण हो सकता है ?

सेठ ने प्रकट में कहा—क्या करें ? लक्ष्मी रूठ कर चली गई। उसने हमें दरवाजे बाहर निकाल दिया। तब हम लोग

यहाँ आये है । इन रस्सों से भूत को बांधेंगे और अपना काम करेंगे !

भूत ने समझ लिया कि मुझे बाँध कर मेरा खजाना ले लेने की तैयारी हो रही है। अतएव वह बोला—स्वामिन्! मुझे बाँधने से क्या लाभ होगा? मेरी अपनी कमाई हुई बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ इस वट के नीचे गड़ी है। आप प्रसन्नता पूर्वक उन्हे स्वीकार कीजिए।

सेठ ने कहा—रहने को ठौर नहीं है, स्वर्ण मुद्राएं लेकर रक्खेंगे कहाँ? लक्ष्मी आकर यहाँ भी वही करेगी तो घर छोड़ कर कहाँ जाएँगे?

भूत--अच्छी बात है, मैं लक्ष्मी को मना लाता हूँ।

सेठ--जैसी तुम्हारी इच्छा। मुझे कोई चाहता नहीं है।

असुर उसी समय लक्ष्मी के पास पहुँचा। घबरा कर कहने लगा—उन्हे मेरे पीछे क्यों लगा दिया तुमने! उनका मैं ने क्या बिगाड़ा है? सब के सब नंगे आचान पर जाकर डटे है। या तो तुम चल कर उन्ह मना लाओ, अन्यथा इन्द्र महाराज के पास जाकर मैं फरियाद करता हूं। क्यों किसी धर्मात्मा और एकता के उपासक भले आदमी को सता रही हो?

लक्ष्मी ने मुस्किरा कर कहा—पहले पहल किसने मुझे छेड़ा था? जो दूसरे के लिए गड्ढा खोदता है, वह आप कुए में पड़ता है।

लक्ष्मी ने आगे कहा—मैं ने इस परिवार के संप की परीक्षा के लिए यह सब करामात की थी। चलो, हम तुम दोनों चलें और उन्हें मना लावें।

लक्ष्मी और असुर दोनों धनदत्त के पास पहुँचे। लक्ष्मी ने उनसे कहा—आप अपने घर वापिस लौट चलो। मेरा अपराध क्षमा करो। आगे कभी ऐसा नहीं करूंगी।

असुर ने कहा—इस धन के कारण मैं भी इस वट से बंधा रहता हूँ। इसे आप अपने साथ ले जाइए। यह हमारे किस काम का?

सेठ—इसमें बोझ बहुत है।

असुर ने अपनी चिरसंचित निधि अपने सिर पर उठाई और वह सेठजी के पीछे हो गया। सेठ धनदत्त परिवार के साथ वापिस लौटे। बाजार के बीच होकर निकले। देव और देवी ने उनका जय-जयकार किया। यह दृश्य देख कर नगर-निवासी चकित रह गए।

धनदत्त अपने घर आये। बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। बात क्या है, यह जानने के लिए सब उत्कंठित थे। सेठ धनदत्त ने रात में बीती सारी कहानी कह सुनाई। उसे सुन कर सब बहुत प्रभावित हुए और सब ने संप की महिमा समझी। इस घटना से धनदत्त की कीर्त्ति सर्वत्र फैल गई। सब लोग उनका खूब आदर करने लगे।
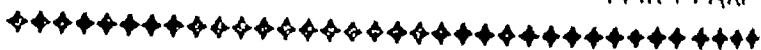
एक समय धनदत्त सेठ सद्‌गुरु का उपदेश सुन कर दीक्षित हो गये। साधु का सयम पाल कर, आयु पूर्ण होने पर स्वर्ग सिधारे। वहाँ से चय कर वे अक्षय कल्याण के भागी होंगे।"

सुगुणी देवी के मुख से यह दृष्टान्त सुनकर सासू और जेठानियों को अत्यन्त हर्ष हुआ। जेठानियाँ कहने लगीं—वास्तव में संप में ही सुख है। हम भी आपस में संप से रहेंगी।

जब लग पोते पुण्य हैं, तब लग संपत जाण।
संपत से लक्ष्मी रहे, शका दिल मत आण॥

१६
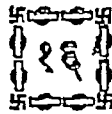
क्षमा और उदारता
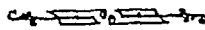
जिनदास और सुगुणी—दोनों सुदृढ़ सम्यक्त्वी थे। उनमें सम्यक्त्व के पाँचों लक्षण—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य—परिपूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। उनका प्रत्येक कदम विवेक रूपी दिव्य दीपक के प्रकाश में ही पड़ता था। वे बड़े गम्भीर और शान्त थे। उन्होंने अपने परिवार में सप रखने का प्रत्येक संभव उपाय किया। कुछ दिनों तक उन उपायों का प्रभाव हुआ, किन्तु स्थायी प्रभाव न हो सका। जिनदास के तीनों बड़े भाई पाप-कर्मोदय से प्रभावित थे। पापकर्म की प्रबलता उन्हें उलटी राह पर ले जा रही थी। इसी कारण उनकी मति विपरीत हो रही थी। अतएव जिनदास और उसके पिता के एकता के लिए किये जाने वाले प्रयास सफल नहीं हो रहे थे।

जिसकी जैसी भवितव्यता होती है, उसे वैसे ही सहायक मिल जाते हैं। इसके अनुसार जिनदास के भाइयों को ऐसी पत्नियाँ मिली थीं, जो उन्हे विपत्ति की ओर खींच कर लिये जा रही थीं।
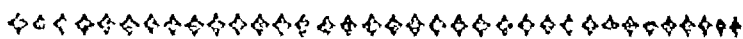
कस्तूरी की सुगंध गांठ में बाँधने से रुक नहीं सकती। इसी प्रकार जिनदास और सुगुणी के सद्गुणों का सौरभ घर की चहारदीवारी से अवरुद्ध नहीं हो सकता था। वह सभी सीमाओं का अतिक्रमण करके दूर-दूर तक फैलता जाता था। और यही कारण था कि जिनदास के भाइयों एवं भौजाइयों के हृदय में घोर ईर्षा उत्पन्न हो गई। जिनदास की कीर्त्ति सुन कर बड़े भाई तिलमिला उठते थे। सुगुणी की गुणावली उसकी जेठानियों को कानों में बाण की तरह चुभती थी।

विवेकशील व्यक्ति किसी की प्रशंसा सुनता है तो जिन सद्गुणों के कारण प्रशंसा हुई है, उन्हें स्वयं प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मगर दुर्जनों का पथ निराला है। वे उन सद्गुणों को अपना भी नहीं सकते और दूसरे की प्रशंसा सुन कर सहन भी नहीं कर सकते। ऐसे पामर लोग अपना भी अहित करते हैं और दूसरों के मार्ग में भी कंटक बोते हैं।

सुगुणी और जिनदास का यश परिवृद्ध होता जाता था और इन लोगों की ईर्षा भी उसी परिमाण में बढ़ती चली जाती थी। एक दिन छहों प्राणियों ने सम्मिलित होकर विचार किया— कोई ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे इन दोनों को नीचा देखना पड़े, इनका अपमान हो।

स्त्रियाँ हँस कर कहने लगीं—रहने भी दो, बेकार बातें बनाते हो! तुम से क्या होना-जाना है! अवसर आने पर हमारी करामात देखना। हम मज़ा चखाएँगी।

उन्हीं दिनों राजा अरिजय का पुत्र राजकुमार रिपुजय असातावेदनीय कर्म के उदय से बीमार हो गया। राजा ने अनेक उपचार किये। बड़े-बड़े कुशल वैद्यों को आमंत्रित किया। पानी के समान पैसा बहाया। किन्तु राजकुमार को कुछ भी लाभ नहीं हुआ।

एक बार दो-चार वयोवृद्ध जन राजा के पास गये। राजकुमार की साता पूछी। राजा ने बतलाया--सभी उपचार विफल हो रहे हैं। कुमार को आरोग्यलाभ नहीं हो रहा है। तब वयोवृद्धों ने परामर्श दिया--एक बार आप 'उजलणी' करके भी देख लीजिए।

राजा निरुपाय था। उसने उनकी बात स्वीकार की। राजा ने मनौती की-'कुमार नीरोग हो जायगा तो एक दिन नगर भर में धुआं नहीं किया जायगा। सब नगर-निवासी बाहर जाकर भोजन बनाएंगे-खाएंगे।'

विश्व में कभी-कभी ऐसी अद्भुत घटनाएँ घटित होती हैं, जिनका कार्य-कारणभाव हमारी मति के लिए अगम्य होता है। राजा के मनौती मनाते ही राजकुमार की वेदना शान्त हो गई। राजा-रानी को असीम हर्ष हुआ। अपनी मनौती की पूर्त्ति के लिए राजा ने सन्ध्या समय घोषणा करवा दी-'कल सब नगरनिवासी नगर के बाहर भोजन-सामग्री ले जाकर भोजन बनाएँ और वहां जीमें। किसी ने नगर में धुआं किया तो वह राजाज्ञा के भंग के अपराध में दंडित किया जाएगा।'

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆

राजा का यह आदेश सुन कर नगर में चहल-पहल-सी मच गई। किसी को प्रसन्नता हुई, किसी को अप्रसन्नता हुई। किन्तु राजा का आदेश अनुल्लंघ्य समझ कर सभी बाहर जाने और भोजन पकाने की तैयारी करने लगे।

सोहन सेठ के तीनों बड़े लड़के अपने पिता से कहने लगे—कल वन-भोजन होगा। अतएव अपने सभी-सगे संबंधियों को आमंत्रित किया जाय और सब को अपनी ओर से भोजन कराया जाय। आपकी क्या आज्ञा है ?

जिनदास ने हाथ जोड़ कर कहा—मैं सगे-संबंधियों को भोजन कराने का निषेध नहीं करता; तथापि गाँव के बाहर भोजन कराना उचित न होगा। वहाँ मिट्टी में बहुत-से त्रसजीव दबे रहते हैं। चीटियाँ, दीमक, मकड़ी, मच्छर आदि प्राणी होते हैं। अग्नि के संयोग से, बहुत सावधानी बरतने पर भी, उनकी मृत्यु हो जाती है। घास में आग लगने से भी अनेक प्राणियों की हिंसा हो सकती है।

सोहन सेठ ने कहा—बात यथार्थ है। स्वजन-संबंधियों को जिमाना है तो कल नहीं, परसों जिमा देंगे। घर पर व्यवस्था भी अच्छी होगी अतः इस विचार को स्थगित रखना ही उचित है।

सेठजी की बात सुन कर तीनों भाई आग बबूला हो गये। क्रोध से उनका अङ्ग-अङ्ग काँपने लगा। आवड़ ने कहा—चलो, यहां हमारी कौन सुनता है ? सेठजी जिनदास के हुक्म

में चलते हैं और सेठानीजी सुगुणी की आज्ञा शिरोधार्य करती हैं। हमें कौन पूछता है ? यह कह कर तीनों भाई उठ कर चले गये और अपनी-अपनी जगह सो गए।

रात्रि में सुगुणी को एक स्वप्न आया। उसने अपने स्वप्न का सम्पूर्ण वर्णन जिनदास को इस प्रकार सुनाया:—

स्वप्न में मैं ने देखा—'हम दोनों परदेश गये हैं। वहाँ प्रभूत सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति हुई है। हमारे चले जाने के पश्चात् यहाँ सब लोग निर्धन हो गए हैं। फिरते-फिरते अपने घर आए हैं। अपने यहाँ अग्रणी का उत्सव था। मैं ने जेठानी से मैंदा पिसवाया और उसे ठोकर मारी।' प्राणनाथ! यह कैसा स्वप्न है ?

जिनदास बोले—प्रिये ! होगा कुछ जंजाल। इसके लिए सिरपच्ची करना वृथा है। आज नगर के बाहर चलना है। समय न गंवाओ। जल्दी सामायिक-प्रतिक्रमण करके तैयार हो जाओ।

सूर्योदय हुआ। आज नगर में बड़ी धूमधाम थी। सब लोग भोजन-सामग्री ले-लेकर अपने-अपने परिवार के साथ बाहर जा रहे थे। कोई जा चुके थे और कोई रास्ते में जा रहे थे। बहुत-से अपनी भोजन-व्यवस्था ठीक करके क्रीड़ा करने में मग्न हो गये थे।

सोहन शाह भी अपने पुत्रों और पुत्रवधुओं के साथ बाहर आ पहुँचे। एक जीव जन्तुविहीन जगह देख कर उन्होंने

अपनी गाड़ी खड़ी करवाई। सुगुणी तत्काल गाड़ी से नीचे उतरी और पूंजणी लेकर उस स्थान को पूंजने लगी। उसने भोजन बनाने का स्थान भी पूंज लिया। फिर पानी छान कर रख दिया। आटा-दाल आदि भोजन-सामग्री भलीभांति देख ली। ईंधन को भी पूंज कर यथास्थान जमा दिया। इस प्रकार श्रावकधर्म के अनुसार सब व्यवस्था ठीक कर दी।

इसके पश्चात् जेठानियाँ काम में लग गईं। सुगुणी ने फुर्सत देख कर सोचा—अब बैठी-बैठी क्या कमाई कर लूंगी? एक सामायिक कर लूँ। यह सोच कर वह एकान्त में चली गई। एक वृक्ष के नीचे जाकर वह सामायिक करने लगी। धार्मिकजन अपने समय को वृथा नहीं गँवाते। अवसर मिलते ही वह धर्मक्रिया करने लगते हैं।

जब सभी नगर-निवासी नगर से बाहर चले गये तो उस नगर में विराजमान धर्मजय ऋषि ने अपने शिष्यों से कहा—आज नगर में आहार-पानी का योग नहीं है। हम लोग भी बाहर चलें और वहीं धर्मोपदेश करें तो क्या हानि है? वहीं भिक्षा लेकर वापिस लौट जाएंगे।

गुरुजी के विचार का सभी शिष्यों ने अनुमोदन किया। सब सन्त नगर के बाहर पहुँचे और एक उद्यान में, यक्ष के मन्दिर में जाकर ठहर गए। धर्म-प्रेमी जनों को मुनिदर्शन करके अपूर्व हर्ष हुआ। जिनदास आदि अनेक धर्मनिष्ठ लोग आकर और सामायिक लेकर बैठ गए। परोपकार परायण अनगार ने धर्म का उपदेश आरंभ किया:—

अनित्यानि शरीराणि, वैभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं समाहितो मृत्यु, कर्त्तव्यो धर्मसग्रहः ॥

अर्थात्—हे भद्र मानवो ! किसी का शरीर सदा एक सरीखा नहीं रह सकता। प्रत्यक्ष देखा जा रहा है कि क्षण-क्षण में इसकी अवस्थाएँ बदलती जा रही हैं। यह शरीर बालक से युवक और युवक से वृद्ध हो गया। वचपन की स्फूर्त्ति और यौवन की शक्ति अब वृद्धावस्था में कहाँ है ? अंग-अग ढीले पड़ गये हैं, इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं और सारा ही शरीर मानों भारभूत हो गया है। प्रभु ने यथार्थ ही कहा है:—

दुमपत्तए पंडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अचए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

जैसे समय व्यतीत होने पर पका हुआ पेड़ का पत्ता सहसा नीचे गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्यों का जीवन भी एक दिन नष्ट हो जाता है। यह किस समय नष्ट हो जाएगा, किसी को पता नहीं है। इसके पतन का कोई निर्धारित समय नहीं है। ऐसी स्थिति में, भगवान् कहते हैं-गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद करना योग्य नहीं।

कुसग्गे जह ओसविन्दुए, थोव चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एव मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

दूब की नोंक पर लटकने वाली जल को बूंद अधिक समय नहीं ठहर सकती। किसी भी समय नीचे गिर जाती है।

मनुष्य-जीवन की भी यही दशा है। गौतम! पल भर भी प्रमाद न करो।

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम! मा पमायए॥

हे गौतम! मनुष्य का यह शरीर अल्पकाल ही ठहरता है। इस अल्पकाल में भी, बीच-बीच में अनेकों विघ्न और बाधाएँ उपस्थित हो जाती है। अतएव इस अवसर को प्राप्त करके पूर्वोपार्जित कर्म-रज को साफ कर डालो। समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

भव्य जीवो! आत्मकल्याण के लिए आज जो अनुकूल परिस्थिति है, वह सदैव ऐसो ही नहीं रहेगी। चतुर नर अवसर से लाभ उठाते है। अतएव तुम भी धर्माचरण करके जीवन का वास्तविक लाभ प्राप्त करो।

कई लोग अपनी धन-सम्पत्ति के अभिमान में फूले फिरते हैं। मगर यह सम्पत्ति भी शाश्वत नहीं है। यह आती-जाती रहती है। कदाचित् पुण्ययोग से स्थिर रह जाय तो भी इससे आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। सम्पत्ति मनुष्य को मृत्यु से नहीं बचा सकती।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।

प्रमादी पुरुष धन के द्वारा अपना त्राण नहीं कर सकता। कहा भी है—

अक्षय धन-परिपूर्ण खजाने, शरण जीव को होते ।
तो अनादि के धनी सभी इस पृथ्वी पर ही होते ।

तात्पर्य यह है कि ससार की कोई भी वस्तु और शक्ति मनुष्य के दुःख सकट और मृत्यु से नहीं बचा सकती। इनसे बचाने की क्षमता तो सिर्फ धर्म मे ही है। अतएव विवेकवान् व्यक्तियों को धर्म का आचरण ही करना चाहिए।

× × × ×

उधर सुगुणी देवी की तीनों जेठानियाँ भोजन बनाने मे लगी थीं। उन्होंने कोई प्रयोजन उपस्थित होने पर सुगुणी को आवाज़ दी। पर सुगुणी वहाँ कहाँ थी ? वह तो फुर्सत का समय समझ कर एकान्त में जा सामायिक करने बैठ गई थी। जब सुगुणी का उत्तर न मिला तो उन्होंने इधर-उधर दृष्टि घुमा कर देखा कि वह तो सामायिक करने बैठ गई है। यह देखकर तीनों जेठानियाँ जल-भुन गईं। उन्हें तीव्र क्रोध आया। वह बड़बड़ाने लगीं—यह मालकिन बन कर सामायिक कर रही है और देवर मालिक बन कर धर्मोपदेश सुन रहे हैं। और हम छहों दास-दासियों की तरह पच रहे हैं। जाने भी दो, हमको ही क्या गरज़ है ? भाड़ में जाय यह भोजन। हम से यह गुलामी नहीं सही जाती।

इस प्रकार बड़बड़ाती हुई तीनों उठ खड़ी हुईं। सेठ और तीनों भाइयो ने उनकी बड़बड़ाहट सुनी तो आश्चर्य करने लगे। सोचने लगे—अचानक ही ऐसी क्या घटना घट गई ? क्यो यह हल्ला हो रहा है ?

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆

उन्होंने इन क्रुद्ध महिलाओं के पास आकर कहा— थोड़ी देर शान्ति रखो यह घर नहीं है। लोक-लाज का तो खयाल करो। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा ? लोग उपहास करेंगे।

बड़ी जेठानी ने तमक कर कहा—क्यों, क्या लोकलाज हमारे लिए ही है ? वे सेठ-सेठानी बन कर धर्मध्यान करें और हम उनके नौकर बन कर काम करें ? हमें क्या मोल देकर खरीदा है ? ऐसा नहीं होगा। हम भी काम नहीं करेंगी। खाने को सब, करने को हम ?

इस प्रकार कह कर तीनों एक ओर जाकर बैठ गईं। तीनों भाई चुपचाप जाकर रसोई बनाने बैठ गए।

एकान्त में बैठ कर तीनों सोचने लगीं—ऐसी कोई तदबीर सोचनी चाहिए, जिससे देवरानी को क्रोध आवे। उसके क्रुद्ध हुए बिना हमें सफलता नहीं मिल सकती। लड़ने का कुछ मज़ा ही नहीं आता !

यह सोच कर तीनों सुगुणी के पास पहुँची। एक ने कहा—बाई, तू तो नित्य-नियम में ऐसी मगन हो रही है कि बात भी नहीं करती।

सुगुणी ने मधुर स्वर से कहा—जरा माला फेर लूँ; फिर बात करूँगी। तब तक आप तीनों आपस में ही बातें कीजिए।

सुगुणी माला फेर चुकी तो बड़ी जेठानी ने कहा बात करें किन्तु बात करने से कलह तो नहीं हो जाएगा ?

सुगुणी—यतनापूर्वक सुख से बातचीत कीजिए। बातचीत में कलह का तो कोई कारण दिखाई नहीं देता।

सुगुणी उनके साथ बातचीत करने को तैयार हो गई। तब बड़ी जेठानी ने कहा—देवरानीजी, आज मुझे विचित्र स्वप्न आयाः—'हम चारों जनी अलग-अलग हो गई हैं। धन-सपत्ति का बराबर-बराबर बँटवारा हो गया है। मगर देवर को कमाना नहीं आता था। अतएव उन्होंने सब सम्पत्ति समाप्त कर दी और वे भिखारी हो गए। थोड़े दिनों बाद मेरे घर में विवाह-समारंभ हुआ। आमन्त्रण पाकर सब स्वजन सम्मिलित हुए; पर देवर और देवरानी बिना बुलाये ही आ धमके। उन्हें गरीब समझ कर मैं ने मिट्टी के पात्र में बचा-खुचा अन्न डाल दिया और जिमा दिया।'

अपने मनगढ़न्त स्वप्न का वृत्तान्त सुनाकर बड़ी जेठानी सुगुणी के चेहरे की ओर देखने लगी। वह जाँच कर रही थी कि सुगुणी को क्रोध आता है या नहीं। पर उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई। सुगुणी शान्त थी।

तब दूसरी जेठानी ने कहा—'अच्छा, अब मेरी बीती सुनो। रात्रि के समय ऐसा ही स्वप्न मुझे भी आया। अन्तर यह है कि मैं ने देवरजी को बचा भात मिट्टी के ठीकरे में डाल दिया। उसे ले कर वे देवरानी के साथ ही खाने लगे। निर्लज्ज को लज्जा भी नहीं आई।'

इतने पर भी सुगुणी को क्रोध न आया!

तीसरी ने सोचा—यह सुगुणी बड़ी पक्की है। जान पड़ता है, पत्थर से बनी है। इतने कठोर शब्दों का भी इस पर कुछ असर नहीं होता। इतना अपमान देख कर तो मुर्दे को भी क्रोध आ जाता। यह मुर्दे से भी बाज़ी मार रही है अच्छा, देखती हूँ; इसे कैसे गुस्सा नहीं आता!

इस प्रकार सोच कर तीसरी जेठानी कहने लगी—मुझे भी तो आज इसी प्रकार का स्वप्न आया है। मैं ने स्वप्न में देखा—'देवर और देवरानी फटे-टूटे, मैले-कुचैले कपड़ों से किसी तरह अपने शरीर की लज्जा बचाते मेरे द्वार पर आए। मैं ने इन्हें अभागा और दरिद्री समझ कर फटकार कर भगा दिया। इतने में ही घर की जूठन मैं ने उकरड़े पर डाली। उसे देख यह दोनों प्राणी कौवा-कौवी की तरह उस पर झपट पड़े। उस जूठन में से अन्न के दाने चुग चुग कर खाने लगे! बाई, आज मैंने ऐसा स्वप्न देखा कि मैं स्वयं चकित रह गई!'

तीनों टकटकी लगा कर सुगुणी की ओर देखने लगीं। वह चाहती थीं कि किसी तरह सुगुणी को क्रोध आ जाय तो लड़ने-झगड़ने का रास्ता निकले। परन्तु उन्हें घोर निराशा हुई। सुगुणी ने अपनी सागर की सी गंभीरता और अपूर्व क्षमाशीलता से जेठानियों को अनायास ही पराजित कर दिया। वह मन ही मन कुढ़ने लगीं, पर करें तो क्या करें?

आखिर बड़ी जेठानी ने एक बार फिर प्रयत्न किया। वह बोली—देवरानी, तुम तो मौन हो रही हो। रात्रि को तुम्हें कोई स्वप्न आया हो तो तुम भी कह सुनाओ।

भद्रहृदया सुगुणी असमंजस में पड़ गई। उसने विचार किया—'स्वप्न तो मुझे अवश्य आया है; परन्तु सुनाऊँगी तो निश्चय ही कलह होगा। ना कहूं तो असत्य भाषण का दोष लगेगा।' यह सोच कर वह मौन धारण करके रह गई।

तब तीनों जेठानियाँ कहने लगीं—हम भोली हैं, अतएव हमने अपना-अपना स्वप्न कह सुनाया। तू बड़ी कपटिन है। मन की बात बताती नहीं है! धर्म करके कपट ही सीखा है क्या?

सुगुणी—आप मुझे क्षमा कीजिए। स्वप्न की बात प्रकट करने से निश्चय ही कलह की आग भड़क उठेगी।

एक जेठानी—तुझे सौगंध है, अपना स्वप्न बतला दे।

दूसरी जेठानी—मैं तुम्हें तुम्हारे पति की कसम दिलाती हूँ, स्वप्न अवश्य बताना पड़ेगा।

सच है, ऐसी ही कलहशील स्त्रियों ने समस्त नारी वर्ग को कलंकित किया है। ऐसी ही क्लेशकारिणी रमणियों के कारण कवि को उच्चारण करना पड़ा—

स्त्रियो हि निन्द्यता लोके, स्त्रियः प्रीतिविनाशिकाः।
पापबीजं कलेर्मूलं, धर्मस्य नाशिकाः स्त्रियः॥

अर्थात्—जगत् में वह स्त्रियाँ निन्दनीय हैं जो पारिवारिक प्रीति का विनाश करती हैं, जो मानो पापों का बीज हैं, कलह का मूल हैं और धर्म का भी नाश करने वाली हैं।

लाएँ वमन करने लगीं। श्वसुर ने समझाया, पतियों ने समझाया; परन्तु वह समझना ही कब चाहती थीं? कहने लगीं—ठोकर मारने वाली के साथ हम हर्गिज़ नहीं रह सकतीं—एक दिन भी नहीं।

इसी समय जिनदास आ पहुंचे। औरतों की लड़ाई देख कर वह भी बहुत लज्जित हुए। अपनी पत्नी का दोष देख कर उन्होंने उसे खूब फटकार बतलाई। बेचारी निरपराध सुगुणी सर्वथा मौन रही।

सोहन सेठ परेशान थे। उन्होंने कहा—साथ नहीं निभ सकतीं तो न सही। घर चल कर सब की पांती कर देंगे। सब अलग-अलग रहना। इस प्रकार समझा बुझा कर उन्होंने किसी प्रकार शान्ति स्थापित की।

इस स्थिति में भोजन किसे भाता? वह विष के समान हो गया। नाम मात्र को सब ने थोड़ा-थोड़ा खाया और बचा हुआ कुत्तों को दान कर दिया गया।

घर आते ही तीनों भाई अलग होने के लिए तुल गये। वे द्वार रोक कर बैठ गए और जब सोहन साहू ने अलग कर देने की शपथ खाई, तब उन्हें घर में घुसने दिया। घर में प्रवेश करके सोहन साहू निधान-गृह में गये। धरती में गड़ा धन बाहर निकाला और उसके चार हिस्से कर दिये। अपने लिए थोड़ी-सी सम्पत्ति अलग रख ली। यह देख कर तीनों पुत्र और तीनों पतोहू अत्यन्त हर्षित हुए। उनकी चिर-कामना सफल

होती दिखलाई दी। उन्हें विश्वास हो गया कि प्रातःकाल होते ही अब बंटवारा हो जाएगा।

सुगुणी और जिनदास अपने शयनगृह में पहुँचे। उस समय जिनदास ने सुगुणी को उपालंभ देते हुए कहा—आज तुमने समझदार होकर भी नासमझी का काम किया और कुटुम्ब में ज़हर फैला दिया!

सुगुणी के लिए यह प्रथम अवसर था कि उसे उपालम्भ के शब्द सुनने पड़े। और वह भी बिना किसी अपराध के। इस कारण वह अत्यन्त लज्जित हुई। फिर उसने समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। कहा—मैं अपना स्वप्न उन्हें बतलाना ही नहीं चाहती थी। मगर आपकी शपथ दिलाने पर मुझे बतलाना पड़ा। असल बात तो यह है कि यह तो एक निमित्त मात्र है। जिठानियाँ कलह करने पर तुली हैं। जिस दिन से मैंने इस घर में प्रवेश किया है, उसी दिन से कलह हो रहा है। इस कलह को देख कर सासू श्वसुरजी भी बहुत दुःखित हैं। उन लोगों के चित्त में भी निरन्तर आर्त्त-रौद्रध्यान रहता है। आज की घटना से स्पष्ट हो गया है कि अब सम्मिलित परिवार निभेगा नहीं। इस प्रकार निभा लेने से कोई लाभ भी नहीं है। अतएव कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे सब के चित्त में शान्ति हो!

जिनदास बोले-हम दोनों के निमित्त से भाइयों-भौजाइयों को दुःख है। यद्यपि अपनी उनके प्रति दुर्भावना नहीं है, अपना कोई अपराध भी नहीं है, फिर भी कर्म का उदय ऐसा ही है। ऐसी स्थिति में अगर हम यहाँ से चल दें तो ये सब प्रसन्न हो

जाएँगे। अपना पुण्य अपने साथ रहेगा; और कोई भी वस्तु अपने साथ न होगी। हम परदेश में रह कर शान्ति के साथ जीवन यापन कर लेंगे। क्लेश का अन्त आ जाएगा। तीनों भाई माता-पिता की सेवा कर लेंगे। बोलो, तैयार हो?

सुगुणी—जहाँ काया वहाँ छाया। पत्नी, पति की अनुगामिनी है। जहाँ आप वहाँ मैं। सब के चित्त की शान्ति का यही उत्तम उपाय है।

१७
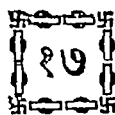
गृहत्याग

आधी रात होने में कुछ विलम्ब था। सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था। सब लोग अपने-अपने घरों के द्वार बंद करके गाढ़ निद्रा का आनन्द ले रहे थे। निस्तब्ध और नीरव प्रकृति मे कहीं हल चल दिखाई नहीं देती थी। कभी-कभी श्वान-ध्वनि ही नीरवता को भंग कर देती थी। चारों ओर असीम तिमिर-राशि व्याप्त थी। ऐसा जान पड़ता था कि दिवाकर के अस्त होने पर सद्यः वैधव्य से पीड़ित प्रकृति ने सिर से पॉव तक काली चादर ओढ़ कर किसी मरुस्थलीय विधवा का अनुकरण किया है।

ऐसे भयानक समय में एक धर्मनिष्ठ दम्पती अपने ऊपर ईर्षा और द्वेष रखने वाले परिवार के सुख के लिए, उसकी चित्तशान्ति के लिए, सर्वस्व के साथ-साथ गृह त्याग करने की आयोजना कर रहा था। यह दम्पती और कोई नहीं, हमारे परिचित जिनदास और देवी सुगुणी का युगल था।

वास्तव में धर्मात्मा व्यक्ति वही है जो दूसरे के सुख के लिए सहर्ष भारी से भारी दुःख उठाने में पश्चात्पद नहीं होता। माला घुमाने वाले और तिलक से अपने भाल की शोभा बढ़ाने वाले तो गली-गली में भटकते फिरते हैं, किन्तु ऐसे सच्चे धर्मात्मा क्वचित् ही दृष्टिगोचर होते हैं।

जिनदास ने सुगुणी से कहा—प्रिये! हमारी कसौटी का काल यही है। धैर्य पूर्वक सब कुछ सहन करना होगा। अगर हमारे हृदय में किसी भी प्राणी के प्रति वैरभाव नहीं है, हमारे अन्तस्तल से अपने विरोधियों के प्रति भी करुणा और प्रेम की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित होती है, हम अपना अनिष्ट चाहने वालों के प्रति भी अनुकम्पाशील हैं, अगर हमें कर्म-सिद्धान्त पर प्रगाढ़ श्रद्धा है, तो हम भयभीत नहीं होंगे, दुखी नहीं होंगे। तुम धैर्य रख कर और नमस्कार मन्त्र का जाप करके मेरे साथ चलो। अगर हमारे पुण्य का उदय है तो हमारे लिए आकाश से रत्न बरस पड़ेंगे। पुण्य क्षीण हो गया होगा तो घर में रहते भी कष्ट उठाना पड़ेगा।

सुगुणी ने कहा—नाथ! इतने दिनों तक जिनदेव द्वारा कथित धर्म का श्रवण-आराधन किया है। उस धर्म का तत्त्व मेरी नस-नस में व्याप्त है। आप चिन्ता न करें। अपने परिवार को सुखी बनाने के लिए मैं महान् से महान् त्याग कर सकती हूँ।

जिनदास—तो बस, इस परिवार के समस्त आभूषण उतार कर रख दो; जो सम्पत्ति तुम्हारे पास हो साल कर छोड़

दो। शरीर पर वस्त्रों के अतिरिक्त हमारे पास और कुछ नहीं रहना चाहिए।

यही किया गया। दोनों के पास तीन-तीन वस्त्र रह गए। अब चलने की तैयारी थी। जिनदास ने कहा- मुख्य द्वार से निकल जाना सभव नहीं। वहाँ माता-पिता शयन कर रहे हैं। वे अपने को कदापि नहीं जाने देंगे। अतः उसने अपने कमरे की खिड़की से एक रस्सा बाँध कर लटकाया और दोनों उसके सहारे नीचे उतर गए।

दोनों सड़क पर आ पहुँचे। पैत्रिक गृह का त्याग करने और माता-पिता को छोड़ कर जाने में उन्हें प्रसन्नता नहीं थी, मगर कर्त्तव्य की प्रेरणा उन्हें आगे बढ़ा रही थी। वे पहरेदारों की निगाह से बचने के लिए गली-कूचों में होकर चले और जैसे-तैसे नगर के बाहर जा पहुँचे।

उनके सामने न कोई निर्दिष्ट लक्ष्य था, न नियत पंथ था। वह स्वयं नहीं जानते थे कि उन्हें किस मार्ग से कहाँ जाना है? इससे सरलता यह हुई कि उन्हें रात्रि के अंधकार में रास्ता नहीं खोजना पड़ा। वे इस झंझट से सहज ही बच गए। जो भी रास्ता उनके सामने आया, उसी पर चल पड़े और चलते ही चले गए।

घोर अंधेरी रात थी। काँटा, कंकर, पत्थर, झाड़, झंखाड़ कुछ भी नहीं सूझ पड़ता था। कभी जिनदास और कभी सुगुणी पत्थर से टकरा जाते, कभी पैरों में काँटे चुभ

जाते, कभी पाँव गड्हे में गिर जाता, और कभी गिर पड़ते थे। रास्ते में अनेक वन्य पशु पास में आये, पर नमस्कार मंत्र का अमोघ कवच उनके पास था। उसका प्रयोग करने से न कोई उपद्रव हुआ और न उनका हृदय भयभीत हुआ।

हाँ, उनके मन में एक भय अवश्य था। वह यह कि हमारे गृहत्याग का समाचार किसी को मिल न गया हो और कोई पकड़ कर वापिस ले जाने के लिए पीछा न कर रहा हो! ऐसा हुआ तो क्लेश में वृद्धि होगी। भाइयों और भौजाइयों के मन में फिर अशान्ति उत्पन्न हो जाएगी। मगर इस भय के कारण उन्हें थकावट नहीं अनुभव हुई और वे काफी दूर निकल गए।

अब रात्रि का अवसान समीप आ गया। अरुणोदय हो गया। कई कोस मार्ग लांघ लिया गया। तब जिनदास ने कहा—प्रिये! जीवन की यह मधुरतर रजनी चिरस्मृत रहेगी। थक गई होओगी। जरा विश्राम कर लें और इस वृक्ष के नीचे बैठ कर नित्य-नियम भी कर लें।

दोनों वृक्ष की छाया में बैठ गये। थोड़ी देर विश्रान्ति लेकर दोनों ने सामायिक की, रात्रिक प्रतिक्रमण किया और यथेष्ट प्रत्याख्यान किया। फिर सोचा-यहाँ अपना कोई सगा-संबंधी नहीं है। जो प्रेम से भोजन करा दे। पास में फूटी कौड़ी नहीं है, कि कहीं से कुछ खरीद कर खाया जाय। अतएव आज उपवास होता दीखता है। फिर क्यों न चतुर्थभक्त का प्रत्याख्यान कर लिया जाय? दोनों ने उपवास ग्रहण कर लिया। वह जानते थे

कि अशुभ कर्मों को भस्म करने का तपस्या से अधिक कारगर अन्य साधन नहीं है।

इसके पश्चात् दोनों धार्मिक आगे चले। कोस दो कोस चलकर विश्राम ले लेते और फिर आगे चल पड़ते थे। इस तरह दिन भर चलते-चलते वे एक खेड़े में पहुँचे। उस समय सन्ध्या हो चुकी थी। सायंकालीन धर्मक्रिया करके रात्रि में वहीं विश्राम किया। प्रथम तो कभी पैदल इतने चले नहीं थे, फिर दिन भर के भूखे थे। अतएव दोनों बुरी तरह थक गये थे। लेकिन उनका चित्त शान्त था। प्रातःकाल उठ कर रात्रिक प्रतिक्रमण किया। छठा आवश्यक करते समय विचार किया—कल की तरह आज भी भोजन का कोई योग दिखाई नहीं देता। वेला करने का सहज ही अवसर मिल गया है। फिर क्यों न षष्ठभक्त का प्रत्याख्यान कर लिया जाय? यह सोच कर दोनों ने षष्ठभक्त का प्रत्याख्यान किया और आगे चल पड़े।

आज दोनों को बहुत थकावट मालूम हो रही थी। भूख के कारण चलना कठिन हो रहा था। फिर भी चलना तो था ही; अतः वृक्षों की छाया में विश्राम लेते हुए जैसे-तैसे चलने लगे। रात्रि होने पर एक गाँव में ठहर गए।

तीसरे दिन भी वही हालत थी। दोनों ने अष्टम भक्त का तप अंगीकार कर लिया। प्रभात होने पर आगे प्रस्थान किया; किन्तु आज चलना बहुत कठिन हो गया। पित्त उठने लगा, चक्कर आने लगे। लेकिन ठहर जाना संभव नहीं था। किसी भी प्रकार बस्ती में पहुँचना था। बीच-बीच में ठहरते हुए

और चित्त शान्त होने पर चलते हुए तीसरे पहर वे एक ग्राम के निकट जा पहुँचे। वहाँ कल-कल ध्वनि करती सरिता प्रवाहित हो रही थी। शीतल पवन चल रहा था। किनारे पर खड़े वृक्षों की ठंडी छाया थके-मांदे राहगीरों को विश्रान्ति लेने के लिए आह्वान कर रही थी।

दोनों बटोही एक तरु के नीचे बैठ गए। सुगुणी अपनी उंगलियों की सहायता से पंच परमेष्ठी का जाप करने बैठी तो उसे आज नाम ही याद न आने लगे। उसने जाप को स्मरण रखने के लिए एक सौ आठ कंकर बीन कर रख लिये और इतने ही जिनदास के सामने रख दिये।

गाँव वहाँ से थोड़ी ही दूर था। फिर भी वहाँ पहुँचना कठिन दिखाई देता था। आखिर हिम्मत करके, किसी प्रकार धीरे-धीरे चलकर दोनों ग्राम तक आये। उस ग्राम का नाम प्रयाग था। वहाँ पहुंच कर जिनदास ने ठहरने के लिए स्थान के विषय में पूछा। ग्रामवासियों ने कहा—मीठी मांजी के घर जाकर विश्राम लीजिए। वे पूछताछ करते मीठो मांजी के द्वार पर जा पहुँचे। जिनदास ने कहा—मांजी, रात भर ठहरने दोगी?

मांजी इस युगल को देख कर प्रसन्न हुई। बोली—बेटा, स्वागत। मेरा अहोभाग्य है कि तुम मेरे द्वार पर आए। यह सब तुम्हारी ही जगह है। सुखपूर्वक विश्राम करो। धर्म ही साथ जाएगा, और कोई साथ जाने वाला नहीं।

जिनदास और सुगुणी बाहर चबूतरे पर बैठ गए। थोड़ी

देर सुस्ता कर वे अन्दर गए। सुख में पली सुगुणी के पेट में तीन दिन से अन्न का एक भी दाना नहीं पड़ा था। ऊपर से लगातार तीन दिन से वह पैदल चल रही थी। अतएव इस समय उसकी हालत अत्यन्त दयनीय हो रही थी। थकावट के और भूख के कारण वह कुम्हला गई थी। भीतर जाते ही लेट गई। बैठने की उसमें शक्ति नहीं रही थी। लेटने पर आँख लग गई।

प्रतिक्रमण का समय हो गया और सुगुणी सो रही थी। जिनदास सोचने लगे—जगाना चाहिए या नहीं? बेचारी करोड़पति की बेटी है! नगर सेठ के लाड़-प्यार में पली है। आज भूखी-प्यासी और थकी-मांदी पड़ी है! भाग्य का चक्र ही जो ठहरा। पर यही तो परीक्षा का समय है। ऐसे कठिन समय पर धैर्य रख कर धर्म की रक्षा करना ही सच्ची धर्मनिष्ठा है।

जिनदास का हृदय भर आया। अपनी सुकुमारी पत्नी की दयनीय दशा देखकर उनका सदय हृदय द्रवित हो उठा। स्वर में स्नेह का माधुर्य भर कर उन्होंने पत्नी से कहा—प्रिये! सावचेत होओ। प्रतिक्रमण और नित्यनियम का समय निकला जा रहा है। यह सोने का समय नहीं है।

सुगुणी—नाथ, आज तो बैठा भी नहीं जाता। मुझे नहीं मालूम था कि जीवन में अन्न का क्या महत्त्व है? सुनती थी—'अन्नं वै प्राणाः।' अर्थात् अन्न ही प्राण हैं। यह बात आज समझ में आ रही है। इस समय उठने की भी हिम्मत नहीं है। जी घबरा रहा है।

जिनदास—मैं देख रहा हूँ, परन्तु सुख-दुख में समान भाव से धर्म का आचरण करना ही उचित है। आखिर तो धर्म से ही संकट टलेंगे।

अबन्धूनामसौ बन्धु-रसखीनामसौ सखा।
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सलः॥

अर्थात्—धर्म बन्धुहीनों का बन्धु है, मित्रहीनों का मित्र है, अनाथों का नाथ है और समस्त जगत् का वत्सल है।

प्रिये! इस परिस्थिति में भी धर्म का आचरण त्याग देना योग्य नहीं है। धर्म को हृदय में स्थान दिये रहोगी तो तुम्हें भी अर्धराज की भांति सुख और श्री की प्राप्ति होगी।

सुगुणी—अर्द्धराज कौन?

जिनदास—यह कथा बड़ी रोचक है। प्रतिक्रमण के पश्चात् कहूँगा।

सुगुणी उठी बड़ी कठिनाई के साथ। उसने श्रद्धा और प्रीति के साथ प्रतिक्रमण आदि नित्य-नियम किया। तत्पश्चात् बोली—अब अर्द्धराज की कथा कह सुनाइए। मीठी मांजी भी वहाँ आ बैठी।

जिनदास—इस कथा का सार यह है कि सुख और दुःख में जो समान रहता है, उसे अन्त में सुख की ही प्राप्ति होती है।

सुगुणी—सार तो समझ गई, पर कथा भी कहिए।

जिनदास—सुनो। अतिशय रमणीय कुशस्थलपुर नामक नगर था। वहाँ श्रीधर नामक एक सेठ रहता था। उसके यहाँ अपरिमित धनराशि थी, सब कुछ था; पर घर का दीपक—पुत्र—नहीं था। पुत्र के अभाव में सेठ रात-दिन चिन्तित रहता था। उसे घर सूना-सूना दिखाई पड़ता था। पुत्र-प्राप्ति के लिए श्रीधर ने अनेक उपाय किये। तब कहीं अन्तराय दूर होने पर वृद्धावस्था में उसकी आशा फलवती हुई। उसकी पत्नी सगर्भा हुई, यथासमय एक सुन्दर बालक ने जन्म धारण किया।

बालक बड़ी कठिनाई से बुढ़ापे में हुआ था और संपत्ति की कोई कमी नहीं थी। ऐसी स्थिति में सेठ को कितनी प्रसन्नता हुई होगी और कितने ठाठ से उसने जन्मोत्सव मनाया होगा, पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं। लोकरूढ़ि के अनुसार सब प्रकार के व्यवहार साधकर श्रीधर सेठ ने अपने सुखदायी पुत्र का 'सुखदत्त'- नाम रक्खा। सुखदत्त के पालन-पोषण के लिए पाँच धायों की नियुक्ति की गई। शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह बालक प्रतिदिन बढ़ने लगा।

सुखदत्त अपने माता-पिता का अतिशय प्रेमपात्र पुत्र था। अतएव उसकी सभी कामनाएँ अविलम्ब पूरी की जाती थीं। सन्ध्या के समय श्रीधर सेठ घोड़ा सजवाकर उसे सैर कराने ले जाते थे। वह उसे अपने साथ बिठलाते और नगर में घुमाते थे। ऐसा करते-करते बहुत दिन बीत गए।

बालक कच्ची मिट्टी का लौंदा है। उसे कुम्भार चाहे जिस रूप में ढाल सकता है। बालक के कुम्भार माता-पिता आदि

संरक्षक हैं। बचपन में वे जैसे संस्कार डालना चाहें, डाल सकते हैं। बालक को जैसा चाहें, बना सकते हैं।

प्रतिदिन घोड़े पर चढ़ाकर फिराने से बालक सुखदत्त को घुड़सवारी का व्यसन हो गया। अब उससे सन्ध्या समय घुड़सवारी किये बिना रहा नहीं जाता था। उसका पिता किसी दिन कारणवश न जाता तो सुखदत्त रोता, परेशान करता और अपने नौकर के साथ घूमने जाता था। कहावत है—

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।

अर्थात्—मूर्ख मनुष्य भी जिस काम का बार-बार अभ्यास करता है, उसमें वह निष्णात हो जाता है। सुखदत्त दैनिक अभ्यास के कारण घुड़सवारी में निपुण हो गया। अश्व फिराने की विद्या उसे सिद्ध हो गई। अब सुखदत्त वयस्क हो गया था और अकेला ही घुड़सवारी किया करता था।

कर्म बड़े बलवान् हैं। लोग हँस-हँस कर जिन कर्मों का संचय करते है, रो-रो कर उनका फल भुगतना पड़ता है। फिर भी आश्चर्य है कि लोग इस अटल सत्य की उपेक्षा करते हैं और कर्म करते समय भविष्य का तनिक भी विचार नहीं करते। हाँ, जो विवेक से विभूषित हैं, वे सदा सावधान रहते हैं।

पूर्वोपार्जित कर्म किसी के साथ रियायत नहीं करते। चाहे कोई चक्रवर्ती हो, चाहे सम्राट् हो, कोई ऋषि-मुनि हो या साक्षात् तीर्थंकर ही क्यों न हो, सब को अपने किये कर्म भोगने पड़ते हैं।

क्व च ननु जनकाधिराजपुत्री,
क्व च दशकन्धरमन्दिरे निवासः।
अति खलु विषमः पुराकृतानां,
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः॥

कहाँ साक्षात् वासुदेव लक्ष्मण की भौजाई, महाशक्तिशाली दाशरथी रामचन्द्र की पत्नी और महाराजा जनक की पुत्री सीता और कहाँ रावण के घर में विवश होकर उसका निवास! सचमुच पूर्वकृत कर्मों का विपाक अत्यन्त ही दारुण होता है!

जब अशुभ कर्म का उदय आता है तो अचानक ही प्रतिकूल संयोग उपस्थित हो जाते हैं और देखते-देखते विराट विभूति, इन्द्रजाल-प्रदर्शित वैभव के समान विलीन हो जाती है।

सुखदत्त के अशुभ कर्म उदय में आए तो उसके पिता का देहान्त हो गया। थोड़े ही दिनों में माता भी चल बसी। लेनदार उसके पीछे लग गए। सुखदत्त ऋण चुकाने की व्यवस्था न कर सका। अवसर देख कर मुनीम-गुमास्ते भी न चूके। उन्होंने अपना उल्लू सीधा किया। परिणाम यह हुआ कि सुखदत्त का वैभव अतीत की वस्तु बन गया। उसके रहने का मकान भी नीलाम पर चढ़ गया। वह अब पूरी तरह दरिद्रता के चंगुल में फँस गया।

फिर भी सुखदत्त घुड़सवारी का परित्याग न कर सका। उसके पास अब भी घोड़ा बच रहा था। सब कुछ चले जाने पर

भी घोड़े के बचे रहने से उसे सन्तोष था। वह पूर्ववत् संध्या समय घोड़े पर सवार होकर निकलता था। परन्तु एक दिन एक लेनदार ने घोड़े पर भी कब्जा कर लिया। घोड़े के चले जाने पर आज सुखदत्त ने समझा कि मेरा सर्वस्व चला गया है!

सुखदत्त को घोड़ा अत्यन्त प्रिय था। उसके प्रेम से प्रेरित होकर वह रात्रि के समय घुड़साल में जाकर सोया। परन्तु उसे निद्रा नहीं आई। वह सोचने लगा—मैं घोड़ा फेरे बिना नहीं रह सकता। कुछ भी हो, घोड़ा फिराना ही होगा। गहरा विचार करते-करते उसने एक उपाय खोज निकाला।

सुखदत्त के हाथ में एक अंगूठी थी। प्रातःकाल होते ही उसने बाजार में जाकर वह अंगूठी बेच डाली और उसके दामों से एक कुल्हाड़ी और रस्सी खरीदी।

सुखदत्त पिता के अन्धे लाड़-प्यार में पला था, अतएव उसने विद्या उपार्जन नहीं की थी। आज वह सोचने लगा—'मेरे पिताजी ने मुझे शिक्षा दी होती तो आज मेरी यह दशा न होती। आराम से भर पेट भोजन पाने योग्य कोई काम कर लेता। मगर अब इस विचार से क्या लाभ है? जो बात बीत गई है, उसके लिए पश्चात्ताप करते बैठे रहने से कोई सुपरिणाम नहीं आ सकता। मनुष्य को चाहिए कि वह अधीरता और कायरता का परित्याग करके वर्त्तमान स्थिति का सामना करने का साहस करे और अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ भविष्य को अनुकूल बनाने की चेष्टा करे। कायर अपने भूतकाल को

रोते हैं, वीर पुरुष अपने भविष्य के निर्माण में जुट पड़ते हैं।'

उसी दिन सुखदत्त रस्सी और कुल्हाड़ी लेकर जंगल की ओर चल दिया। उसने लकड़ी काटने और बेचने का धन्धा करने का निश्चय कर लिया। एक बार उसके मन में विचार आया कि मैं, श्रीधर सेठ का पुत्र, जब मस्तक पर लकड़ियों का भारा लेकर नगर में बेचने आऊँगा तो लोग क्या कहेंगे? पर उसी समय उसने इस तुच्छ विचार को ठुकरा दिया। मैं शरीरश्रम करके अपनी रोटी कमाऊँगा, किसी से भीख नहीं मांगूँगा। इसमें बुराई क्या है? आखिर लोगों ने क्यों समझ लिया है कि अपनी शारीरिक शक्ति का उपयोग करना बुरी बात है? अन्याय-अनीति से पेट भरना पाप है। छल-कपट करके द्रव्योपार्जन करना पाप है। पूंजी के द्वारा पूंजी बढ़ाना पाप है। एक देकर चार वसूल करना पाप है। चोरी करना, जेब कतरना, डाका डालना पाप है। परन्तु शारीरिक श्रम करके पैसा पैदा करने में क्या बुराई है? यह तो उच्च से उच्च श्रेणी की प्रामाणिकता है। स्वय श्रम करके निर्वाह करने वाला महारम्भ और महापरिग्रह के पाप से अनायास ही बच सकता है। मैं लोगों के कहने की परवाह नहीं करूँगा। लोग हँसेंगे तो मैं भी उनकी मूर्खता पर हँस दूंगा।

सुखदत्त उस दिन लकड़ियों का एक भारा लाया और उसे आठ आने में बेच दिया। उसमें से चार आना अपने भोजन में खर्च किये और शेष बचे चार आने अपने व्यसन की पूर्ति में।

भोजन खर्च से बचे चार आने लेकर सुखदत्त धोबी के पास पहुँचा। धोबी को एक आना देकर उसने एक घंटे के लिए भाड़े पर कपड़े लिये और बढ़िया पोशाक सजा ली। तत्पश्चात् वह सराफ की दुकान पर आया। एक आना उसे देकर गहने भाड़े पर लिये। एक पैसा देकर माली से सुन्दर माला खरीद कर पहन ली। एक पैसे का पान खाया। फिर राजा की घुड़-साल पर आया। अश्वपाल को एक आना देकर घोड़ा भाड़े ले लिया। अश्वपाल भी उसके साथ हो गया। इस प्रकार पूरी तरह सज-धज कर सुखदत्त शान के साथ अश्व पर सवार हुआ और सदा की भाँति बाजार में आया। लोग आश्चर्यमयी दृष्टि से उसे देखने लगे। कहने लगे—अरे, यह कौन है? यह कौन है? इसका शृंगार अर्द्ध राजा के समान शोभा दे रहा है। धीरे-धीरे जनता उसका असली नाम भूल गई। अर्द्ध राजा के नाम से वह प्रख्यात हो गया। प्रतिदिन उसका यही क्रम चलने लगा।

अर्द्ध राजा बाल्यावस्था से ही घोड़ा नचाने की कला में कुशल हो गया था। बाजार में जब निकलता और अश्व को नचाता, कुदाता और थेई-थेई करवाता तो क्या बालक और क्या वृद्ध, क्या नर और क्या नारी—सभी दर्शक मुग्ध हो जाते। वह इस प्रकार घड़ी भर बाजार में घूम कर अपने ठिकाने चला जाता। सब की चीज़ें उन्हें वापिस सौंप देता और रात्रि में मस्ती की नींद सोता।

अर्द्ध राजा की अश्व फिराने की कुशलता देख-देखकर

अनेक अश्वाधिपति उसे अपना-अपना अश्व देने को लालायित हो उठे। एक कहता—आज हमारे घोड़े पर सवारी कीजिए तो दूसरा कहता—नहीं, आज हमारे घोड़े की बारी है। इस प्रकार अर्द्ध राजा को एक से एक उत्तम घोड़े सवारी के लिए मिलने लगे। कोई उसे गहना देने लगा, कोई पान खिलाने लगा और कोई तेल फुलेल अर्पित करने लगा। अर्द्ध राजा नित्य नयी पोशाक में निकलता और घोड़े को नित्य नयी चाल चलाता। लोग उंगली उठा कर कहते—अरे, यह घोड़ा अमुक का है और यह आभूषण अमुक के हैं। यह सुन कर घोड़े और गहनों के स्वामी अपना गौरव समझते थे।

कुछ ही दिनों में उस नगर में अर्द्ध राजा की धूम मच गई। उसके निकलने का समय होने से पहले ही नर-नारियों के झुंड के झुंड सड़क के दोनों ओर तथा मकानों की छत पर इकट्ठे हो जाते। एक-एक आदमी कई-कई को देखने के लिए घसीट लाता। कहते—देखो तो सही क्या ठाठ है! देखें, आज किसका घोड़ा निकलता है। कोई कहता—देखें आज किसका गहना पहन कर अर्द्ध राजा आता है।

यह क्रम चलते-चलते बहुत दिन हो गये। अर्द्ध राजा दिन में कुल्हाड़ी लेकर जंगल में चला जाता चौथे पहर तक भारा लेकर आ जाता था। नगर में उसे सभी पहचानने लगे थे। अतएव ज्यों ही वह भारा लेकर आता, लोग उसे खरीदने के लिए टूट पड़ते और मुँह माँगे दाम देकर ले लेते। कई बार तो एक साथ इतने ग्राहक जमा हो जाते कि उसे अपना भारा

बेचना कठिन हो जाता। किसे बेचे और किसे नहीं, यह समस्या उसके सामने खड़ी हो जाती।

कई बार नगर के धनिकों ने उसे यह कठोर श्रम न करने का परामर्श दिया। कहा—हमारे यहाँ सुखपूर्वक रहो और हमारे घोड़े को नाचना सिखाओ। तुम्हें चाहिए क्या? आगे—पीछे कोई है नहीं। भोजन और वस्त्र की हमारे यहाँ कमी नहीं। फिर भी जो चाहोगे, सभी मिलेगा।

अर्द्ध राजा हँस कर कहता—कौन बुद्धिमान् राजा होकर दास बनना पसंद करेगा? मैं अपने परिश्रम और कला कौशल के प्रभाव से इस नगर मे अर्द्ध राजा कहलाता हूँ। यह राजपाट छोड़ कर कौन गुलामी करे? मुझे अपना यही स्वाधीन जीवन प्रिय है। पराधीनता के अभिशाप के साथ मैं कुबेर के भण्डार से भी घृणा करता हूँ। स्वाधीनता के साथ मेरी अठन्नी ही भली है।

× × × ×

सुखदत्त लकड़ियाँ काटने के लिए वन में घूम रहा था। अचानक उसकी दृष्टि एक निर्ग्रन्थ मुनि पर जा पड़ी। मुनि एक वृक्ष के नीचे विराजमान थे। ध्यान में मग्न थे। उनकी मुखमुद्रा से प्रशम का पीयूष झर रहा था। ललाट पर गहरी दिखलाई देने वाली तीन अखण्ड रेखाएँ उनकी रत्नत्रय की गंभीर साधना की साक्षी दे रही थीं। उनकी तल्लीनता वीतरागता को प्रकट कर रही थी? भाल की तेजस्विता तपस्तेज

की प्रखरता का प्रमाण उपस्थित कर रही थी। अनिवार्य धर्मोपकरणों के अतिरिक्त उनके पास कोई वस्तु नहीं थी। यह उनकी अकिंचनता का प्रतीक था। जगत् के आमोद-प्रमोद से पृथक् होकर यह महात्मा किस अनिर्वचनीय और अकल्पनीय सुख की, गवेषणा कर रहे हैं? सर्वस्व त्याग कर यह क्या पाना चाहते हैं? इत्यादि अनेक मौन प्रश्न सुखदत्त के अन्त-स्तल में लहराने लगे। मुनि की शान्त और मनोमोहक छवि देख कर हठात् वह उनकी ओर आकर्षित हो गया। महात्मा परमात्मा का ध्यान कर रहे थे और सुखदत्त महात्मा का ध्यान कर रहा था। मुनि की समाधि भंग करने का उसे साहस नहीं हुआ। उसने बिना आहट किये, दबे पाँव जाकर मुनि को वन्दना की और ध्यान पूर्ण होने की प्रतीक्षा करने लगा।

यथासमय मुनि महाराज का ध्यान पूर्ण हुआ। नेत्र खुले। नेत्रों की प्रशान्त ज्योति में स्नान करके सुखदत्त अपने को पावन मानने लगा। वह उस दिव्य ज्योति को अपनी आँखों में समा लेना चाहता था कि उसी समय मुनिराज के मुखचन्द्र से सुधा बह उठी—'भव्य, तुम कौन हो?

सुखदत्त—मैं वणिक् हूं।

मुनि—वन में आगमन का प्रयोजन?

सुखदत्त—मैं आजकल लकड़हारे का काम करता हूं। अशुभ कर्म के उदय से यह स्थिति हुई है।

मुनि—जिसका सुख न रहा, उसका दुःख भी न रहेगा।

सुखदत्त—आपके आशीर्वाद के लिए आभारी हूँ।

मुनि—यह आशीर्वाद नहीं, वस्तुस्वरूप का दिग्दर्शन मात्र है।

सुखदत्त—भगवन् ! मेरे कल्याण का कोई मार्ग बतलाइए।

मुनि—कल्याण का मार्ग ? तीर्थंकर के चरणचिह्नों पर चलना।

सुखदत्त—बस, और कोई मार्ग नहीं है ? हम जैसे संसारी जनों के लिए प्रभु के पास भी कोई मार्ग नहीं है ?

मुनि—नहीं। सच्चा सुख त्याग के बिना संभव ही नहीं।

सुखदत्त—और जो त्यागी न बन सके, वह दुःख के दलदल में ही फँसा रहे ? उसके उद्धार का भी कोई उपाय होना चाहिए।

मुनि—ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो त्याग न कर सकता हो। त्याग की मात्रा मे तरतमता हो सकती है।

सुखदत्त—यह किस प्रकार ?

मुनि—तुम पूर्ण त्यागी नहीं बन सकते तो अपूर्ण त्यागी ही बनो। तुम लकड़ियाँ काटने का धन्धा करते हो। अगर हरी लकड़ियाँ काटने का त्याग कर दो तो आंशिक त्यागी हो जाओगे। यह त्याग भी सुख का ही मार्ग है।

सुखदत्त—आपका आदेश शिरोधार्य है।

मुनि—प्रतिज्ञा अंगीकार करने से पहले सोच लो। प्रतिज्ञा न लेने की अपेक्षा लेकर भंग करना बड़ा पाप है।

सुखदत्त—सोच लिया, प्रभो! प्रतिज्ञा करता हूं कि आजीविका के निमित्त मैं हरी लकड़ी नहीं काटूंगा।

मुनि—इस प्रतिज्ञा का उद्देश्य तो समझ गए।

सुखदत्त—आपके आदेश के अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं समझना है।

साधारण मुनि होता तो अपने प्रति भगत की अनन्य निष्ठा देखकर फूला न समाता। पर यह मुनि तत्त्वदर्शी थे। बोले—नहीं भद्र, धर्म का पथ नेत्र बन्द कर चलने का नहीं है। नेत्र खोलकर चलने वाला ही कुपथ से बच कर सत्पथ पर चल सकता है। वही मंज़िल तक पहुँच सकता है। आँख खोलना ज्ञान है, चलना क्रिया है। ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही सिद्धि का द्वार है।

सुखदत्त—प्रभो! मैं कृतार्थ हुआ। अनुग्रह करके आप ही मेरे नेत्र खोलिए।

मुनि—देखो भाई, हरित वनस्पति भी हमारी ही तरह प्राणवान् है। उसमें भी चेतना का किंचित् चमत्कार है। उसमें भी जीवन लहरा रहा है। उसमें भी जीवित की रुचि और मृत्यु के प्रति अरुचि है। जीवित रहने के लिए वह भी आहार करती है। तुम्हारा कुल्हाड़ा देखकर वह भी भीति से काँपती है। उसमें संज्ञा है, कामना है। सिद्ध भगवान् में जैसी चेतना

है, वैसी ही अपने मूल रूप में वनस्पति में है। अन्तर विकास की मात्रा का है। वह बोल नहीं सकती, तथापि हमारी भाँति उसके भी सुख-दुःख है। उसे पाँच में से सिर्फ एक इन्द्रिय प्राप्त है; अतएव उसे हम अपनी छोटी बहिन समझ सकते हैं। यह समझ कर उसे कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए।

लेकिन इस प्रतिज्ञा का उद्देश्य इससे भी अधिक विशाल है।

सुखदत्त—वह भी बतलाने की कृपा कीजिए।

मुनिराज—इस प्रकार की प्रतिज्ञा से अन्य प्राणियों के प्रति हमारे अन्तस्तल में सहानुभूति की भावना जागृत होती है। वनस्पति को दया करने वाला मनुष्य त्रस जीवों और मनुष्यों के प्रति भी अनुकम्पाशील होगा। अतएव यह प्रतिज्ञा प्राणी मात्र के प्रति दयालुता धारण करने का प्रथम चरण है।

इसके अतिरिक्त वृक्ष अनेक प्रकार से सृष्टि के लिए उपयोगी हैं। वे शीतल छाया देते हैं, फल-फूल देते हैं, गगनविहारी मेघों को खींचकर वर्षा बरसाते हैं। इसलिए उनके विनाश को रोकना सार्वजनिक हित की दृष्टि से भी उपयोगी है।

सुखदत्त—धन्य भाग्य मेरे कि आपके दर्शन हुए। भगवन्! मैं अपनी प्रतिज्ञा का आजीवन पालन करूंगा और प्रतिज्ञा के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए भी सावधान रहूंगा।

× × × ×

प्रतिज्ञा लेकर सुखदत्त मुनि के पास से रवाना हुआ। संयोग की बात कि बहुत खोजने पर भी उसे उस दिन सूखी लकड़ियाँ न मिलीं। उसे बावन चन्दन का वृक्ष दृष्टिगोचर हुआ, किन्तु हरा था और हरे वृक्ष को काटने का वह त्याग कर चुका था। अतएव वृक्ष के नीचे पतली-पतली टहनियाँ जो पड़ी थीं, उसने वही उठा कर सन्तोष माना। दातौन सरीखे पाँच-सात मुठिया बाँध कर वह नगर में चला आया। उनमे से एक मुठिया बेच कर कुछ पैसे लिये और झटपट भोजन करके तैयार हो गया। घुड़सवारी का समय सन्निकट आ गया था।

जब मनुष्य के पाप-कर्म का अन्त आता है और पुण्य प्रकट होने को होता है तो स्वतः सद्बुद्धि जाग उठती है। उसे संयोग भी ऐसे ही मिल जाते हैं। अब सुखदत्त के पुण्य का उदय आरम्भ हो रहा था।

उन दिनों इस नगर में एक लक्खी वणिजारा आया था और नगर के बाहर ठहरा था। सन्ध्या-समय नगर की सैर करने के लिए वह बाजार में आया। उसने बाजार में अपार भीड़ देख कर एक वृद्ध पुरुष से पूछा—क्यों महाशय, यह भीड़ किस लिए हो रही है ?

वृद्ध ने वणिजारे को अजनबी आदमी समझ कर उत्तर दिया—सुन्दर शृंगार सजा कर अश्व को खिलाता हुआ अर्द्ध राजा आने वाला है। उसे मुजरा करने के लिए यह भीड़ जमा हुई है।

वणिजारा यह उत्तर सुन कर आश्चर्य में पड़ गया। सोचने लगा—पूरे राजा तो बहुत देखे हैं, पर आधा राजा आज ही सुना, जिसे देखने के लिए इतनी भीड़ हो रही है! इस आधे राजा ने मनुष्यों का ऐसा मन मोह लिया है!

उसी समय नल-कूवर के समान अर्द्ध राजा आया। अश्व को नचाता हुआ अर्द्ध राजा जब बाजार के बीच से निकला तो सब लोग मस्तक नमा-नमा कर उसका अभिवादन करने लगे। अर्द्ध राजा भी अत्यन्त नम्रता के साथ अपना मस्तक झुकाता और बदले में प्रणाम करता चला जाता था।

अर्द्ध राजा लक्खी वणिजारे के पास होकर निकला। वणिजारे ने भी झुक कर नमस्कार किया। नया आदमी देख कर अर्द्ध राजा ने उससे पूछा—भाई, तुम कौन हो? कहाँ से आए हो? कहाँ जा रहे हो? क्या काम करते हो?

अर्द्ध राजा की नम्रता देख कर वणिजारा अतीव प्रसन्न हुआ और बोला—स्वामिन्! मैं वणिजारा हूँ। भद्दलपुर से आया हूँ, कणियापुर जाने का विचार है। अभी नगर के बाहर ठहरा हूँ।

अर्द्ध राजा—कणियापुर के राजा मेरे काका लगते हैं। सुना है, वे कुष्ठ की व्याधि से पीड़ित हैं। यह सुन कर मुझे बहुत दुःख हो रहा है। मिलने की बहुत उत्सुकता है, पर क्या करूं, क्षण भर का अवकाश नहीं है। उनके लिए मैंने औषधि रख छोड़ी है। सोचता था, कोई योग्य साथ मिल जाय तो भेज

हूँ। आज भाग्य से तुम मिल गए। मेरा इतना काम जरूर करना। यह बावन चन्दन है। महाराज के पास पहुँचा देना और इसकी दातौन करने को कह देना। थोड़ा-सा घिस कर अंग पर लगा भी लें। इससे सारी बीमारी दूर हो जाएगी। मेरी ओर से सुख-साता भी पूछना। नम्रता के साथ प्रणाम कह देना। यह भी कहना कि पिताजी की मृत्यु के बाद आपने एक भी पत्र नहीं लिखा। ऐसी रुखाई किस काम की? किस कारण मेरे ऊपर से आपका मन उतर गया है?

अन्त में अर्द्धराजा ने कहा—जब तुम लौटोगे तो मैं इसी समय और इसी जगह मिलूँगा।

इतना कह कर अर्द्ध राजा ने अपना घोड़ा आगे बढ़ा दिया। वणिजारा यह सब देख—सुन कर चकित रह गया। वह सोचने लगा—अर्द्ध राजा इतने बड़े होकर भी कितने नम्र हैं।

इस प्रकार अर्द्ध राजा की प्रशंसा करता हुआ वणि-जारा अपने टांडे में आया। बैलों को लदवाकर वह यथासमय कुशस्थलपुर से रवाना हो गया और बीच-बीच में मुकाम करता हुआ कणियापुर आ पहुंचा।

कणियापुर पहुंचते ही मूल्यवान् उपहारों के साथ वणि-जारा राजा के दरबार में गया। वहाँ राजा को न देख कर उसने दीवान से मुलाकात की और पूछा—महाराज दरबार में उपस्थित नहीं होते क्या? तब दीवान ने कहा—महाराज कुष्ठ

जगह पहुँच कर वह फिर अर्द्धराजा के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। अर्द्धराजा भी सदैव की भांति अश्वारूढ़ होकर बाजार में निकला। उसके आने से पहले ही जनता में चहल-पहल मच गई। लोग दृष्टि गड़ा कर प्रसन्नतापूर्वक उसे देखने लगे। अर्द्धराजा ने एक जगह आकर देखा—वही वणिजारा खड़ा है और अब की बार उसके पास सजा-सजाया एक गजराज भी है।

वणिजारे ने मुजरा करके भृगुकच्छ के सब समाचार कहे। भृगुकच्छ-नरेश का मुजरा निवेदन किया और कहा—उन्होंने अतिशय प्रीति के साथ आपकी सेवा में यह गजराज उपहार में भेजा है।

अर्द्धराजा ने गजराज पर एक उपेक्षापूर्ण दृष्टि डाली और कहा—क्या करूँगा इसका? यहाँ वन मे ऐसे-ऐसे भैंसे बहुत फिरते हैं। अब तुम कहाँ जा रहे हो?

सिंहलद्वीप में पारापुर नगर बड़ा सुहावना है। अब की बार वहाँ जाने का विचार किया है।

अर्द्धराजा—अच्छा, वहाँ के राजा मेरे पिताजी के मित्र हैं। यह गजराज ले जाकर उन्हीं को भेंट कर देना।

वणिजारा सिंहलद्वीप में आ पहुँचा। राजा से मुलाकात करके उसने अर्द्धराजा की ओर से भेजा हुआ उपहार प्रस्तुत किया। साथ ही अर्द्धराजा के रूप की, बुद्धि की, बल की, उदारता की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

राजा थोड़ी देर तक विचार मग्न रहा। प्रयत्न करके भी वह अर्द्ध राजा को स्मरण न कर सका। तब उसने अपने प्रधान से पूछा—कौन है यह अर्द्ध राजा?

प्रधान—अन्नदाता, मैं पहचानता तो नहीं हूँ, परन्तु बिना प्रगाढ़ परिचय के इतना बड़ा हाथी और इतना कीमती लवाजमा कौन किसे भेजता है? अवश्य कोई प्रेमी होने चाहिए। सार्थ-नायक ने भी उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। कोई महाभाग्यशाली होना चाहिए।

राजा ने कहा—राजकुमारी विवाह के योग्य हो चुकी है। वह रूपवती, गुणवती और कलाकुशल भी है। ठीक जोड़ी मिलती हो तो अर्द्धराजा को देकर क्यों न अपना जामाता बना लूँ? उन्हें अपना आधा राज्य देकर यहीं रख लूँगा।

राजा ने सार्थवाह को सम्मान के साथ बुलाया। आदर के साथ विठला कर कहा—अर्द्ध राजा की उम्र क्या है? उनके रूप और गुणों का भी कुछ परिचय दो, जिससे विशेष परिचय प्राप्त हो सके।

सार्थवाह बोला—अन्नदाता, अर्द्ध राजा के गुणों का वर्णन करना मेरी शक्ति से बाहर है। वह नवयुवा हैं। उनका रूप अत्यन्त दिव्य और सुहावना है। नित्य नये आभूषण और वस्त्र धारण करते हैं। नित्य नये अश्व पर सवारी करते हैं। हजारों नर-नारी उन्हें देखने के लिए लालायित रहते हैं और देख कर मुग्ध हो जाते है। अश्व को तो ऐसा नचाते हैं कि

अश्विनी देवता भी थक जाय ! इतना होने पर भी उनकी नम्रता अद्‌भुत है। वाणी में अमृत की मधुरता है। संक्षेप में यही कह सकता हूँ कि उनके गुण अपार हैं। एक जीभ से उनका वर्णन नहीं हो सकता।

इस प्रकार अर्द्ध राजा की विरुदावली श्रवण कर सिंहल-नरेश उसे अपना जामाता बनाने के लिए लालायित हो उठा।

इस समय अर्द्ध राजा का पुण्य चमक रहा था। पुण्य का उदय होने पर सभी प्राणी अनुकूल हो जाते हैं और विषम से विषम परिस्थितियाँ भी अनुकूल हो जाती हैं। कहा भी है—

जन्मिना पूर्वजन्मात्तभाग्यमन्त्राभिमन्त्रितः ।
अचेतनोऽपि वश्य. स्यात्, किं पुनर्यः सचेतनः ॥

पूर्व जन्म में उपार्जित शुभ कर्म रूपी मंत्र से प्रभावित होकर जड़ प्रकृति भी वशीभूत हो जाती है; सचेतन की तो बात ही क्या है ?

हाँ, तो सिंहल द्वीप के नृपति ने सार्थनायक से कहा-नायकजी ! एक काम आपको सौंपना चाहता हूँ। अगर आप उसे सफलता पूर्वक सम्पन्न कर देंगे तो मुँहमाँगा पारितोषिक पाएँगे। वह कोई कठिन और मुसीबत का काम नहीं है। अर्द्ध राजा को किसी उपाय से यहाँ ले आइए। उन्हें मैं अपनी कन्या व्याहना चाहता हूँ। शक्ति के अनुसार राज-वैभव भी दूँगा।

वणिजारा—राजेश्वर ! आपकी दृष्टि में यह काम कठिन नहीं है, परन्तु मुझे अति कठिन जान पड़ता है। वे वहाँ भी राजा को अतीव वल्लभ हैं। उनको छोड़ कर यहाँ आ जाना बहुत कठिन है।

राजा—फिर भी उपाय तो कीजिए।

वणिजारा—अवश्य। मैं अपनी शक्ति के अनुसार पूरा प्रयत्न करूँगा। जरा भी कसर नहीं रक्खूँगा।

सार्थनायक कतिपय आदमियों को साथ लेकर कुशस्थल पुर आया और सन्ध्या-समय वहीं आकर खड़ा हो गया, जहाँ पहले कई बार अर्द्ध राजा से मिल चुका था।

नियत समय पर उसी ठाठ के साथ अर्द्ध राजा घोड़ा नचाता हुआ निकला। सार्थनायक ने उसे अपने निकट आया देख अत्यन्त हर्ष व्यक्त किया। उसने झुक-झुक कर नमस्कार किया। अर्द्ध राजा ने उसका समुचित सन्मान करके प्रश्न किया—सिंहल-नरेश का क्या हाल-चाल है ? गजराज का उपहार स्वीकार कर लिया ? और क्या समाचार हैं ?

सार्थनायक ने हाथ जोड़ कर कहा—वहाँ सभी भाँति कुशल-मंगल है। वहाँ के महाराज रात-दिन आपकी कुशल चाहते हैं। हाँ, एक विशेष समाचार लाया हूँ।

अर्द्ध राजा—वह क्या ?

सार्थनायक—सिंहल-सिंह की कन्या पद्मिनी है।

अपरिमित रूपराशि की स्वामिनी है। सद्गुणवती है। आपको उसके योग्य वर समझ कर बुला रहे हैं। स्वामिन्, किसी भी प्रकार एक बार सिंहलद्वीप अवश्य पधारिए। मैं बड़ी आशा लेकर आया हूँ। मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए।

अर्द्ध राजा—भाई, मुझ पर यहाँ के महाराज का असीम प्रेम है। अगर उन्हें पता लग गया तो वे हर्गिज़ न जाने देंगे। परन्तु वे मेरे पिताजी के मित्र हैं। मैं ना करूँ तो कैसे करूँ ? खैर, अवसर मिला तो रात्रि के समय मैं तुम्हारे डेरे पर आऊंगा। मेरी प्रतीक्षा करना और यह रहस्य किसी पर प्रकट न करना।

सार्थनायक—स्वामिन् ! किसी बहाने से यहाँ से निकल चलिए। धन और सेना की कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो वहां भी बहुत है।

अर्द्ध राजा आगे बढ़ गया और वणिजारा अपने डेरे की ओर चल दिया। थोड़ी देर में अर्द्ध राजा अपने घर जा पहुंचा। उसने डट कर भोजन किया। उसकी प्रसन्नता का पार नहीं था। भोजन करते ही वह वणिजारे के डेरे की ओर चल दिया। जब डेरे के पास पहुंचा तो उसने दौड़ना आरम्भ किया और दौड़ता-दौड़ता ही वह डेरे में प्रविष्ट हुआ।

सार्थनायक ने अचानक अर्द्ध राजा को आया देखा तो सब चौकन्ने होकर खड़े हो गए। सब ने 'खमा अन्नदाता, खमा अन्नदाता' कह कर अभिवादन किया। सब उसकी ओर देखने लगे।

अर्द्ध राजा ने कहा—चलना है तो अभी और इसी समय चल पड़ो। विलम्ब होने पर चल सकना मेरी शक्ति से भी बाहर होगा। राजा को पता लग गया तो अभी-अभी आकर वह मुझे वापिस ले जाएँगे।

सार्थनायक ने उसी समय सारी तैयारी कर डाली। सिंहल द्वीप से वह बढ़िया घोड़े लेकर आया था। सब लोग उन पर सवार हो गए। घोड़े हवा से बातें करने लगे।

अर्द्ध राजा और उसके साथियों ने सारी रात्रि चलते-चलते व्यतीत की। थोड़ी देर के लिए भी कहीं विश्राम नहीं किया। सूर्योदय होने पर जब एक बड़ा नगर मिला तो सब ने वहीं पड़ाव डाला। बणिजारा बड़ा ही कुशल था। वह विपुल द्रव्य साथ में लेकर चला था। उस द्रव्य से उसने वहीं हाथी, घोड़े और रथ आदि खरीदे। बहुसंख्यक सिपाही भी नियुक्त कर लिए। उसने अर्द्ध राजा को बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहना दिये। शृंगार सज लेने पर वह ऐसा भव्य दिखाई देने लगा जैसे नल कुँवर हो।

इस प्रकार पूरी तरह राजसी शान बना कर सब ने वहां से प्रस्थान किया। आगे-आगे हलकारे चलने लगे और पीछे-पीछे सुखदत्त आदि।

सिंहल-नरेश को अर्द्ध राजा के शुभागमन का शुभ संवाद भेज दिया गया। नरेश की प्रसन्नता का पार न रहा। उन्होंने उसी समय स्वागत के लिए सेना को सुसज्जित करने

का आदेश दिया। सेना तैयार होने पर नरेश स्वयं गाजे-बाजे और अपने सरदारों के साथ स्वागत के लिए सामने आए। नगर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक अर्द्ध राज के आगमन की धूम मच गई। सब नगर-निवासी राजजामाता को देखने के लिए उत्कंठित होकर उसकी ओर आने लगे। विशाल जन-समूह एकत्र हो गया।

इस समय अर्द्ध राजा की शान निराली थी। अब वह पूर्ण राजा प्रतीत होता था। उसे देखकर कोई नहीं कह सकता था कि यह आधा राजा है!

शुभ मुहूर्त में शुभ शकुन के साथ अर्द्ध राजा का नगर-प्रवेश हुआ। सिंहल नरेश ने विशाल और भव्य प्रासाद में उसे ठहराया और वहाँ सभी प्रकार की राजसी सुखसामग्री की व्यवस्था कर दी।

थोड़े ही समय में शुभ लग्न में राजा ने अपनी कन्या ब्याह दी। दहेज में अपना आधा राज्य और उसके साथ प्रचुर धन दिया। जनता की वाणी वास्तव में सत्य सिद्ध हुई। सुख-दत्त आज सचमुच अर्द्ध राजा बन गया। उसके सौभाग्य ने उसे लकड़हारे से राजा के पद पर पहुँचा दिया।

एक बार उसके मन में कुशस्थल जाने की अभिलाषा हुई। वह अपनी सेना लेकर वहाँ पहुँचा। अपने परिचितों से मिला। उसके सचमुच आधे राजा होने की बात सुन कर सब को महान् आश्चर्य हुआ।

सिंहल नरेश के कोई पुत्र नहीं था। जब वह मरने लगा तो सुखदत्त को अपना सम्पूर्ण राज्य दे दिया। इस प्रकार अर्द्ध राजा पूर्ण राजा भी हो गया। धर्म के प्रसाद से उसे सभी सुख प्राप्त हुए। अवसर आने पर उसने राज्य का त्याग कर दीक्षा ग्रहण की। स्वर्ग के सुख भोगे। आगे विशिष्ट तपस्या करके वह शिवरमणी का वरण करेगा।

इस प्रकार जिनदास ने अर्द्ध राजा की कथा कह कर अपनी क्लान्त पत्नी सुगुणी से कहा--सुख और दुःख के समय एक समान धर्म क्रिया करने वाले अवश्य ही उत्तम सुख को प्राप्त करते हैं। अतएव घोर से घोर दुःख पड़ने पर भी धैर्य की रक्षा करना और धर्म का आचरण करना ही धार्मिकता की कसौटी है। जो लोग विपत्ति पड़ने पर धर्म से विमुख हो जाते हैं अथवा धर्म को कोसने लगते हैं, समझना चाहिए कि उन्होंने धर्म के मर्म को नहीं पाया है। वे धर्म के व्यापारी हैं, धर्म के आराधक नहीं हैं।

१८

दैवी सहायता
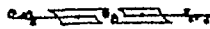
संसार सारा जिसके बिना है,
अत्यन्त निस्सार मसान जैसा।
साकार है शान्ति वसुन्धरा की,
हे धर्म ! तू ही जग का सहारा ॥
जो जीव संसार-समुद्र मध्य,
है डूबते पार उन्हें लगाता।
आता नहीं और समर्थ कोई,
आनन्द का धाम सदा तु ही है ॥

—भावना

जिसे ज्ञानी जन 'असार' समझ कर त्याग देते हैं, उसे भाषातत्त्ववेत्ताओं ने 'संसार' नाम क्यों दिया है ? असार को संसार कहने का क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न पर अगर विचार किया जाय तो एक ही समाधान प्रतीत होता है। संसार 'निस्सार' होते हुए भी वह धर्म के कारण 'संसार' कहलाता

है। संसार धर्म की भूमि है। इसी में रह कर मनुष्य धर्म का आचरण कर सकता है। इस अभिप्राय को ध्यान में रखा जाय तो 'संसार' शब्द की सार्थकता समझ में आ जाती है। कहा भी है:—

श्रीगुरु के चरणों में जाकर सादर सविनय प्रश्न किया,
है असार ससार अगर तो क्यों यह सुन्दर नाम दिया ?
श्रीगुरु बोले भव्य जीव जो करते विदित धर्म का सार,
उनके लिए सारमय है यह, इतर जनों को है निस्सार ॥

—भारिल्ल

इस कथन से स्पष्ट है कि संसार में यदि कोई सारभूत वस्तु है तो वह धर्म ही है। धर्म ने ही ससार को सं-सार बनाया है।

धर्म के इस महत्त्व को जिनदास और सुगुणी ने भली-भाँति विदित कर लिया था। धर्म उनके जीवन की खुराक बन गया था। इसी कारण हम देखते हैं कि वे तीन दिन तक निराहार रह गये, किन्तु धर्म का बराबर समाराधन करते रहे। ऐसे ही अवसर पर मनुष्य की धार्मिकता की परीक्षा होती है।

अर्द्ध राजा की कथा सुना कर जिनदास ने सुगुणी का मनोरंजन नहीं किया, किन्तु उसे यह समझाया कि विपत्ति के अवसर पर भी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने वाले अन्त में विपत्ति को सकुशल पार कर जाते हैं और सम्पत्ति के पुनीत अधिकारी बनते हैं।

मीठी माँजी ने भी अर्द्ध राजा की कथा सुन कर अत्यन्त हर्ष व्यक्त किया। उसने इस दम्पती की प्रशंसा करते हुए कहा—तुम दोनों बहुत धर्मात्मा हो। तुम्हारा चरित्र बहुत पवित्र जान पड़ता है।

जिनदास अपनी प्रशंसा सुनकर हर्षित नहीं हुआ। उसने कहा—मां जी! धर्म का आदर्श बहुत ऊँचा है। हमारे जैसे पामर प्राणी उसका स्पर्श भी नहीं कर पाते। फिर भी गुरु का उपदेश सुनकर यथाशक्ति उसका पालन करता हूँ। सुगुणी का भी यही हाल है। मनुष्य भव पाकर धर्म का आचरण न किया तो क्या किया? उस हालत में मनुष्य होना ही व्यर्थ हो जाता है।

माँ जी—ठीक कहते हो बेटा! तुम्हारी नम्रता भी प्रशंसनीय है।

जिनदास—माँ जी, इस ग्राम के आसपास कोई नगर भी है, जहाँ हम लोग शान्ति के साथ अपनी आजीविका उपार्जन करके रह सकें?

माँ जी—यहाँ से तीन कोस दूर पोलासपुर है। बड़ा सुन्दर शहर है। वहाँ के सब लोग सुखी है, उदार हैं और धर्मात्मा हैं।

जिनदास को यह बात सुन कर शान्ति प्राप्त हुई।

रात्रि काफी व्यतीत हो चुकी थी और यह दोनों थके-

माँदे थे। अतएव वार्त्तालाप बंद हो गया और सब अपने-अपने स्थान पर सो गए।

धर्मात्मा जनों का पुण्य किस प्रकार प्रकट होता है और पुण्य प्रकट होने पर किस प्रकार सारे संकट छिन्नभिन्न हो जाते हैं, यह बात जिनदास और सुगुणी के जीवन में घटित घटना से समझी जा सकती है। वह घटना इस प्रकार घटी:—

रात्रि के गहन अन्धकार में एक यक्ष और यक्षिणी का युगल वहाँ होकर आकाश मार्ग से जा रहा था। वह अचानक मीठी मां जी के घर के ऊपर होकर निकला। उनका यान वेग के साथ चल रहा था; पर ज्यों ही मीठी मांजी के मकान को लांघने लगा, त्यों ही अचानक रुक गया। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो अचानक किसी ने जबर्दस्त 'ब्रेक' लगा दिया हो। अपने यान को सहसा रुका देख यक्षयुगल विस्मय मे पड़ गया। उसे किंचित् काल के लिए घबराहट भी हुई।

मगर देवताओं को दिव्य दृग् प्राप्त होते हैं। यक्ष-यक्षिणी ने अपने अवधिज्ञान का प्रयोग किया और यान के अकस्मात् रुक जाने का कारण जानना चाहा। तब उन्हें ज्ञात हुआ-अहा, इस घर में एक धर्मनिष्ठ दम्पती शयन कर रहा है। दोनों प्राणी अत्यन्त दयावान् और क्षमावान् हैं। बेचारे घोर संकट में पड़े हैं। इन्होंने दूसरों के हित के लिए अपना पैत्रिक भवन त्याग दिया है। प्रतिदिन के कलह से दूसरों के चित्त में आर्त्त-ध्यान-रौद्रध्यान होता था, उनसे उन्हें बचाने के लिए और स्वय अपनी शान्ति की रक्षा के लिए वे पैत्रिक सम्पत्ति को तृण

की तरह त्याग करके चले आए हैं। जिस धन के लिए बाप, बेटे का शत्रु बन जाता है, बेटा बाप के प्राणों का ग्राहक हो जाता है, भाई भाई की जान ले लेता है; जिस धन के लिए लोग बड़े से बड़े पाप का आचरण करने में भी सकोच नहीं करते, जिस धन के लिए सारा संसार तड़प रहा है, उस धन को इन धर्मात्मा प्राणियों ने सहज ही त्याग कर संसार को यह दिखला दिया है कि सच्चा धर्मात्मा उसे कितना तुच्छ समझता है ? जिनधर्म का अनुयायी धन को धर्म से अधिक कदापि नहीं समझता। वह हँसते-हँसते धन को ठुकरा कर भी अपने धर्म की रक्षा करता है। यह बेचारे प्रभूत धन में से एक कौड़ी भी अपने साथ नहीं लाये हैं। यह अपने भाग्य के भरोसे चल पड़े हैं। धर्म ही इनका सहारा है। इन्हें तीन दिन से भोजन भी प्राप्त नहीं हो सका है।

यक्षिणी का हृदय दोनों की दशा देखकर अत्यन्त द्रवित हो गया। उसने यक्ष से कहा—नाथ, इस सुकुमारी सुगुणी को तो देखो। जिसने कभी धरती पर पाँव नहीं रक्खा था, आज वही भूखी-प्यासी तीन दिन से पैदल चल रही है। थक कर कितनी परेशान है। गुलाब का फूल चण्डांशु के संताप से जैसे सूख जाता है, भूख के कारण यह भी सूख गई है। ऐसे धर्मात्मा जीवों को साता पहुंचाना परम पुण्य की वृद्धि का कारण है। हम देवों का प्रधान कर्त्तव्य है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष के अन्तःकरण में अपने स्वधर्मी जनों के प्रति प्रबलतर वात्सल्य-भाव होता है। भगवान् ने कहा है कि

जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति प्रगाढ़ प्रीति रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा अपने धर्मी भाई-बहिन के ऊपर प्रीति रखता है। सच्चा सम्यग्दृष्टि स्वधर्मी के कष्ट को अपना ही कष्ट मानता है, उसकी विपत्ति को अपनी ही विपत्ति समझता है और उसे दूर करने में कोई कसर नहीं रखता। कहने को तो सम्यग्दृष्टि बहुत हैं और अमुक कुल में उत्पन्न होने के कारण ही बहुत लोग अपने को सम्यग्दृष्टि समझ लेते हैं, परन्तु सम्यक्त्व की जो विशेषताएँ शास्त्र में बतलाई गई हैं, उन्हें सामने रख कर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि कितने लोग वास्तव में सम्यग्दृष्टि हैं और कितने भ्रम में पड़ कर अपने आपको झूठी सान्त्वना दे रहे हैं। आशय यह है कि जो व्यक्ति प्रत्येक संभव उपाय से अपने स्वधर्मी की सहायता करता है, वही सच्चे सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अगर सेठ है तो अपनी दुकान पर स्वधर्मी को ही गुमाश्ता बनाएगा। अगर डाक्टर या वकील है तो स्वधर्मी को ही अपना सहायक-कम्पाउण्डर या मुंशी-बनाएगा। उसे किसी वस्तु की आवश्यकता होगी तो, जहाँ तक संभव होगा, अपने स्वधर्मी से ही वह वस्तु खरीदेगा। चार पैसे ज्यादा देने पड़ेंगे तो भी उसे देकर खरीदेगा। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग की स्थापना होने पर धर्म का प्रभाव बढ़ता है। धर्मात्माओं का धर्म प्रेम बढ़ता है।

यक्ष देव था और उसके अन्तः करण में धर्म के प्रति प्रेम था। धर्म का प्रेम धर्मात्मा के प्रति प्रेम होने से ही व्यक्त होता है। अतएव यक्ष ने इस दम्पती की विपत्ति को अपनी ही

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆

विपत्ति समझा। उस विपत्ति को दूर किये बिना वह एक पैर भी आगे न बढ़ सका।

यक्ष ने उपयोग लगाया तो उसे दो सौ सोलह कंकर दिखाई दिये। उसने वह कंकर, जो सुगुणी और जिनदास ने णमोकार मंत्र के जाप के लिए रख छोड़े थे, हरण कर लिए और उनके बदले उतने ही बहुमूल्य रत्न रख दिये।

इतना करके यक्षयुगल आगे चला गया। जिनदास और सुगुणी नींद में थे। उन्हें इस घटना का कुछ भी पता न था। प्रभात हुआ और प्रतिक्रमण की वेला आई तो दोनों जाग गये। प्रातः कृत्य करके और शारीरिक शुचिता करके उन्होंने सामायिक, प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रिया की। इस प्रकार धर्म क्रिया से निवृत्त होकर उन्होंने मीठी मांजी को आवाज़ दी और उसकी जगह उसे सँभला कर पोलासपुर की ओर चल पड़े।

ग्राम के बाहर, कुछ दूर जाकर विश्राम लेने लगे। इधर मांजी जहाँ जिनदास ठहरे थे वह स्थान झाड़ने के लिए गई तो उसे एक चमकता हुआ रत्न दिखाई दिया। बुढ़िया यद्यपि सम्पत्तिशालिनी नहीं थी, फिर भी धर्मनिष्ठा थी। वह अनीति के धन से परहेज़ करती थी। चाहती तो उस रत्न को गांठ में बाँध कर रख लेती। किसी ने उसे दिया नहीं था। कोई साक्षी नहीं था। जिनदास कदाचित् माँगने आता तो वह मुकर सकती थी। कह सकती थी कि मारे-मारे फिर रहे थे सो मैंने ठहरने की जगह दी और मुझको ही चोर बनाने आए हो? दाने का ठिकाना नहीं, रत्न तुम्हारे पास कहाँ से आया? कौन वहाँ

जिनदास का पक्ष लेने वाला था ? अपरिचित परदेशी की बात कौन सच्ची मानता ? मीठी मांजी सहज ही उस रत्न को हज़म कर सकती थी। लेकिन उसकी अन्तरात्मा में दानव नहीं, देव विराजमान था। वह जानती थी कि इस रत्न पर मेरा न्याय संगत अधिकार नहीं है। किसी की भूली हुई, रास्ते में पड़ी हुई, धरोहर रूप में धरी हुई वस्तु को अपने अधिकार में कर लेना गृहस्थ धर्म से प्रतिकूल है। न्याय-नीति से उपार्जित धन ही गृहस्थ के लिए उपादेय होता है। अनीति के धन को धर्मज्ञ गृहस्थ विष से भी अधिक भयंकर समझता है।

मीठी मांजी को रत्न दिखाई दिया तो उसे समझने में देरी नहीं लगी कि यह रत्न जिनदास का है। भूल से यहाँ रह गया है। उसने जिनदास के लौटने की प्रतीक्षा नहीं की। यह नहीं सोचा कि लौट कर आएगा और माँगेगा तो दे दूंगी। मांजी को एक-एक पल भी भारी लगा। हाथ का झाड़ू एक कोने में रखकर और मकान के किवाड़ ज्यों-त्यों बंद करके वह उसी रास्ते दौड़ी, जिस रास्ते से जिनदास गए थे वह जिनदास को पुकारती हुई जा रही थी।

जिनदास आवाज़ सुनकर चौंक उठे। पीछे मुड़कर देखा तो मीठी मांजी भागती आती दिखाई दी। उसे आती देख वह कहने लगे—अरे, मांजी क्यों भाग कर आ रही है ? जान पड़ता है, इसका कुछ खो गया है। ऐसा न हो कि चोरी का कलंक माथे चढ़े। लेकिन हमने कुछ लिया नहीं है तो डर काहे का ? देखें, क्या गुल खिलते है !

जिनदास वहीं ठिठक रहे। इतने में बुढ़िया निकट आ गई। आते ही वह बोली—धर्मी भाई, तुम मेरे घर कुछ भूल आये हो? अपना माल जरा सँभाल देखो तो।

जिनदास ने आश्चर्यान्वित होकर कहा—माँ जी, तुमने वृथा कष्ट उठाया है। हमारे पास भूलने योग्य कुछ है ही नहीं।

वृद्धा ने रत्न निकाल कर दिखलाया और कहा—यह मुझे वहीं मिला है, जहाँ तुम ठहरे थे अवश्य ही यह तुम्हारा है। मेरे घर में ऐसा रत्न कहाँ?

उसी समय सुगुणी ने अपनी वह गांठ सँभाली जिसमें दो सौ सोलह कंकर बंधे थे। उसे देख कर अत्याश्चर्य हुआ कि कँकर सब जगमग-जगमग करते रत्न हो गए हैं। उसने अपने पति को दिखला कर कहा—स्वामिन्! देखिए, धर्म का प्रभाव। कंकर किस प्रकार रत्न के रूप में परिवर्त्तित हो गए हैं।

जिनदास यह चमत्कार देख कर अत्यन्त विस्मित रह गए। उन्होंने मन ही मन कहाः—

धर्माज्जन्म कुले कलङ्कविकले, जातिः सुधर्मोत्परा,
धर्मादायुरखण्डितं गुरुबलं धर्माच्च नीरोगता।
धर्माद्वित्तमनिन्दितं निरुपमा भोगाः सुकीर्तिः सुधीः,
धर्मादेव च देहिनां प्रभवतः स्वर्गापवर्गावपि॥

अर्थात्—धर्म के प्रताप से कलंकहीन कुल में और उत्तम जाति में जन्म होता है, धर्मात्मा जीव को धार्मिक और उत्तम

संस्कार वाले पितृपक्ष एवं मातृपक्ष की प्राप्ति होती है। धर्म से बीच में खंडित न होने वाली आयु मिलती है। प्रचुर बल की तथा आरोग्य की प्राप्ति होती है। धर्म के प्रभाव से प्रचुर धन, अनुपम भोग और सुयश मिलते हैं। अधिक क्या कहें, धर्म के प्रसाद से ही जीव स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के अधिकारी होते हैं।

गाढ़े से गाढ़े अवसर पर भी धर्म के पथ पर चलने वाले और प्राणों पर संकट आ जाने पर भी अधर्म का आश्रय न लेने वाले महान् पुरुषों के जीवन में ही ऐसे चमत्कार घटित होते है। पाई-पाई और पैसे-पैसे के लिए अधर्म करने वाले लोग धर्म के महत्त्व को नहीं समझ सकते।

सुगुणी ने उन रत्नों को गिना तो दो सौ पन्द्रह निकले। तब वह वृद्धा से बोली—माँजी, तुम्हारा कहना ठीक है। यह रत्न हमारा ही है। भूल से वहीं पर रह गया था।

इसके बाद दम्पती ने परामर्श करके कहा—माँजी, जब यह रत्न तुम्हारे पास पहुँच गया है तो अपने पास ही रहने दो। हमें इसकी आवश्यकता नहीं है।

मांजी चकित खड़ी थी। वह अत्यधिक प्रसन्न हो गई। तब जिनदास ने पूछा—माँजी, पोलासपुर के लिए भाड़े पर कोई गाड़ी मिल सकेगी?

माँजी—भई, क्यों जल्दी करते हो? हमारे घर पर ही क्यों नहीं ठहरते? जो चाहिए, वहीं मिल जाएगा।

जिनदास ने विचार किया—अब पारणा करके आगे चलना ही उचित है। इससे मांजी का भी मन राजी हो जायगा। सुगुणी में भी चेतना आ जायगी।

जिनदास और सुगुणी दोनों वापिस लौट चले और मांजी के घर आ गये। मांजी का कलेजा शान्त हो गया। सुगुणी ने पारणा की सामग्री मँगवाई। मांजी ने उसके कथनानुसार सब सामग्री उपस्थित कर दी। सुगुणी ने अपने हाथ से आहार तैयार किया। सुगुणी ने पहले जिनदास को पारणा कराया और फिर स्वयं पारणा किया।

१६
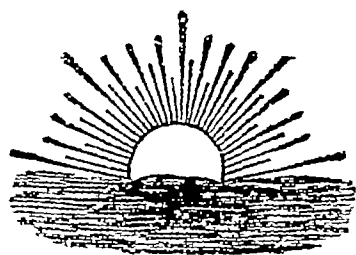
पुण्य-परिपाक

उस दिन जिनदास और सुगुणी ने वहीं विश्राम किया। उनका चित्त स्वस्थ हो गया और दुःखमय अवस्था का अन्त आ गया। दोनों आराम कर रहे थे कि वृद्धा भी वहाँ पहुंची। वह अपनी बीती सुनाने लगी। कहने लगी—पहले मेरा घर ऐसा वीरान नहीं था। बहुत धन था और बड़ा परिवार था। मेरे चार पुत्र थे और घर के स्वामी थे। वे सब एक-एक करके चल बसे। मैं ही अभागिनी अकेली बच रही हूँ। डालियाँ कट जाने पर जैसे वृक्ष का ठूंठ खड़ा रह जाता है, वैसी ही मैं रह गई हूँ। मेरा बुढ़ापा आ गया है। यह शरीर थक गया है। काम-धाम कुछ होता नहीं। प्रथम तो काम ही ज्यादा नहीं रह गया है, जो है वह भी भार रूप प्रतीत होता है। बेटा, घर में जो सम्पत्ति है, मेरे सौ वर्ष पूरे होने के बाद, उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं है। क्या ही अच्छा हो, तुम्हीं इसके स्वामी बन जाओ और मुझे मुक्ति दो।

जिनदास को बुढ़िया का आत्म वृत्तान्त सुनकर दया आई। वह कहने लगे—वास्तव में संसार ऐसा ही है।

दुनिया के बाजार में, चल कर आया एक।
मिले बहुत, पर अन्त में रहा एक का एक ॥

जीव अकेला आता है पर यन्तों को अपना मान लेता है। पर उसकी मान्यता कल्पना है, भ्रान्ति है, मोह का विलास है! उसमें सचाई नहीं होती। इसी कारण एक दिन उसके 'अपने' छूट जाते हैं। वह अकेले का अकेला ही रह जाता है। यह अकेलापन वरदान भी सिद्ध हो सकता है और अभिशाप भी। ज्ञानियों के लिए एकाकीपन वरदान है, अज्ञानियों के लिए अभिशाप है। ज्ञानी एकाकीपन को परमार्थ के चिन्तन में लगाते हैं और अज्ञानी हाय-हाय करके आत्मा के अहित मे। एक ही प्रकार की परिस्थिति विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों के लिए विभिन्न परिणाम उत्पन्न करती है। इसका मूल कारण ज्ञान और अज्ञान है। फलितार्थ यह हुआ कि ज्ञानी पुरुष प्रत्येक परिस्थिति से लाभ उठा सकता है और अज्ञानी प्रत्येक परिस्थिति से हानि ही उठाता है।

परिस्थितियों को पलटने देना अथवा न पलटने देना किसी के वश की बात नहीं है। परन्तु उनसे लाभ उठा लेना अवश्य हमारे हाथ मे है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त करे। सम्यग्ज्ञान का प्राप्त हो जाना एक ऐसे साधन का प्राप्त हो जाना है, जो मनुष्य को हर हालत में सुखी बनाए रहता है और दुनिया जिसे बुरी से बुरी हालत कहती है, उसमें भी दुखी नहीं होने देता। माँजी, तुम अपने एकाकीपन को ज्ञान के साधन से वरदान बनाने का प्रयत्न करो

वृद्धा-भैया, पर इतना ज्ञान लाऊँ कहाँ से ? इसी से तो कहती हूँ कि तुम यहीं रह जाते तो मेरा भी उद्धार हो जाता।

जिनदास—मेरा मन इस खेड़े में नहीं लगता। तुम चाहो तो हमारे साथ चल सकती हो। हम दोनों तुम्हारी सेवा करेंगे। पोलासपुर यहाँ से दूर भी नहीं है। इच्छा हो तब आ जाया करना।

वृद्धा—बेटा, इस बुढ़ापे में यह घर छोड़ने को जी नहीं चाहता। इस घर में जिंदगी बिताई है। अनेक मधुर स्मृतियाँ यहाँ सुरक्षित हैं। इसे छोड़ कर स्वर्ग में जाने का भी मन नहीं होता। लेकिन एक बात मानो तो कहूँ ?

जिनदास—मैं समझता हूँ, न मानने योग्य बात तुम कहोगी ही नहीं।

वृद्धा—मैं यह कहना चाहती हूँ कि जब अवसर मिले तो मेरी सार-संभाल ले लिया करना।

जिनदास—अवश्य, अवश्य !

दूसरे दिन जिनदास गाड़ी भाड़े से लेकर रवाना होने को तैयार हो गए। वृद्धा ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से उन्हें विदाई दी। दोनों ने वृद्धा को प्रणाम करके प्रस्थान कर दिया।

× × ×

जिनदास अपनी पत्नी के साथ पोलासपुर आ पहुँचे उनके पास द्रव्य की कमी नहीं थी। फिर भी रहने योग्य ठौर

की आवश्यकता थी। वह इधर-उधर घूमते-फिरते और अपने योग्य मकान खोजते बाजार में पहुँचे। संयोग की बात है कि उसी समय वहां के एक सेठ की विशाल हवेली नीलाम हो रही थी। सेठ का नाम धनेन्द्र था और वह वहां के धनाढ्यों में अग्रगण्य था। किन्तु अशुभ कर्मों का उदय आने से उसका दिवाला निकल गया। इसी कारण हवेली और उसमें का माल नीलाम पर चढ़ा हुआ था।

संसार का यही हाल है। धन को लोग अपना सब से बड़ा आधार समझते हैं, परन्तु वह अकस्मात् ही धोखा देकर चला जाता है।

सञ्चितं सञ्चितं द्रव्यं, नष्टं तव पुनः पुनः।
कदाचिन्मोद्यसे मूढ ! धनेहा धनकामुक !

ज्ञानी जन अज्ञानियों की धनलोलुपता को देखकर उपालंभ देते हुए कहते हैं—अरे धन के लालची ! मूढ़ नर ! तू ने अनादि काल से लेकर अब तक न जाने कितनी बार धन का संचय किया, किन्तु वह तेरे पास नहीं रहा। तू संचय करता है, वह चला जाता है। बार-बार यही खिलवाड़ करता है। यह सब अपनी आँखों से देख कर भी तू धन की कामना का कब परित्याग करेगा ? कब निस्पृह होकर विचरेगा ? मनुष्य को एक बार ही ठोकर खाकर सँभल जाना चाहिए। जो बार-बार ठोकरें खाता है, फिर भी सावधान नहीं होता और आँखें बन्द करके उसी मार्ग पर चलता जा रहा है, उसे मूढ़ नहीं कहा जाय तो क्या कहा जाय ?

हाँ, तो जिनदास उस हवेली के पास खड़े हो गए। उन्होंने सोचा—नयी हवेली बनवाने में बड़ा आरम्भ-समारम्भ होता है। षट्काय के जीवों की हिंसा होती है। बनी-बनाई मिल जाय तो सहज ही इस पाप से बचाव हो सकता है।

यद्यपि गृहस्थ आरम्भजा हिंसा का त्यागी नहीं होता। इस हिंसा का त्याग उससे निभ नहीं सकता। तथापि विवेकशील श्रावक अहिंसा का आराधक होता है और यथासंभव अधिक से अधिक अहिंसा का पालन करने का ही प्रयत्न करता है। वह आरंभजा हिंसा को भी त्याज्य ही मानता है। अतएव निरर्थक आरंभजा हिंसा से जितना बचना संभव है, उतना बचने का प्रयत्न करता रहता है। जिनदास इस तथ्य को भलीभाँति जानते थे। उन्होंने विचार किया—जब हिंसा से बचा जा सकता है और मेरा कोई काम नहीं रुकता तो उससे बचना ही चाहिए। यह तैयार हवेली लेकर अपना काम चला लेना चाहिए।

यह सोच कर जिनदास ने नीलाम करने वाले राज कर्मचारी से पूछा—महाशय, इसका मूल्य क्या है?

राजकर्मचारी ने सिर से पाँव तक जिनदास को देखा। फिर कहा—आठ करोड़ इसकी कीमत है। जो राज्य को आठ करोड़ देगा वह इस हवेली का और हवेली में जो माल है उस सब का मालिक होगा।

जिनदास—ठीक है। मैं इसे खरीदता हूँ। मूल्य किसे देना है?
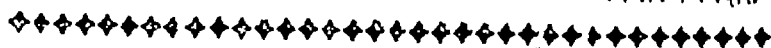
राजकर्मचारी—राज्य के प्रधान के पास चलिए। कीमत चुका दीजिए और पट्टा लिखा लीजिए!

जिनदास प्रधान-सचिव के पास पहुँचे। उन्होंने अपने पास के आठ रत्न निकाले और हवेली का पट्टा लिखवा कर उस पर अधिकार कर लिया। राजमन्त्री ने नवागन्तुक परदेशी सेठ के पास इतना बहुत द्रव्य देख कर आश्चर्य किया। जिनदास ने सब सामग्री के साथ हवेली ले-ली। हवेल पाँच खण्ड की थी और अच्छी जगह पर स्थित थी। उसमें सब प्रकार की सुखसामग्री विद्यमान थी। जिनदास को जरा भी परेशानी न हुई। कोई सामग्री खरीद कर नहीं लानी पड़ी। उन्होंने सुगुणी के साथ उस हवेली में ऐसे प्रवेश किया, जैसे पहले से बने हुए अपने ही मकान में कोई प्रवेश करता है।

गद्दी मसनद आदि लगे हुए थे। जिनदास जाकर वहाँ बैठ गए उन्होंने धनेन्द्र सेठ के यहाँ कार्य करने वाले मुनीमों को फिर रख लिया। जहाँ तक बन पड़ा, पहले वाले नौकर-चाकर भी रख लिए मगर उन्हें नियुक्त करते समय सवाया वेतन देने का वचन दिया।

प्रायः देखा जाता है कि धनवान् लोग ऐसे अवसर पर कस लगाया करते हैं। वे नियुक्त होने वाले की परिस्थिति से लाभ उठाने का पूरा पूरा प्रयत्न करते हैं। अपने आश्रित जनों से अधिक से अधिक काम लेना और कम से कम दाम देना चाहते हैं। किन्तु यह नीति धर्म से सगत नहीं है। श्रावक को सदैव यह विवेक रखना चाहिए कि किसी भी कर्मचारी से,

उसकी शक्ति से अधिक काम न लिया जाय। अधिक काम लेना हिंसा है। प्रभु ने उसे 'अतिभारारोपण' का नामक अतिचार कहा है। इसी प्रकार पर्याप्त काम लेकर उसका यथोचित पारिश्रमिक न देना भी अधर्म है। यह अधर्म स्तेय अर्थात् चोरी के अन्तर्गत है।

जिनदास ने अगर कुछ परिवर्त्तन किया तो यही कि दुकान का नाम बदल दिया। शेष सब ज्यों का त्यों रहने दिया। वे धर्म और नीति के अनुकूल व्यवसाय करने लगे।

हवेली में पहुँचते ही उन्होंने पता लगवा लिया था कि यहाँ कोई सन्त महात्मा विराजमान हैं। अतएव वह सुगुणी के साथ उनके दर्शन करने गये। धर्मोपदेश सुना। बाद में आकर भोजन किया। इसी प्रकार उनकी सारी व्यवस्था ठीक हो गई।

जिनदास किस स्थिति में घर त्याग कर रवाना हुए थे, किस स्थिति में उन्होंने रास्ता तय किया था और आज अचानक किस स्थिति में आ पहुँचे? इस प्रश्न पर विचार करने से पुण्य का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। वास्तव में पुण्य के प्रभाव से ही जीवों को इच्छित पदार्थ और सुख की प्राप्ति होती है। अतएव पुण्य का उपार्जन करना उचित है। पुण्य उपार्जन सत्कृत्य से होता है, ऐसा समझ कर ज्ञानवान् धर्म का आचरण करते हैं।

धर्म का आचरण करते हुए और न्याय-नीति के अनुकूल संसार-व्यवहार चलाते हुए जिनदास और सुगुणी सुख-

पूर्वक कालयापन करने लगे। वे अपने धर्म की रक्षा के लिए तथा स्व पर के चित्त की शान्ति के लिए सब कुछ छोड़ कर आये थे, किन्तु उन्हें यहाँ भी सभी कुछ प्राप्त हो गया। यही नहीं, उन्होंने जितना त्यागा था, उससे भी कई गुना आज उन्हें प्राप्त था। त्याग की यह महिमा थी। त्याग की महिमा को जो अपने जीवन में स्वयं अनुभव कर पाते हैं, वे और भी अधिक त्यागी एवं दानी बन जाते है। इस कथन के अनुसार श्रावक-शिरोमणि जिनदास और श्राविकारत्न सुगुणी के हृदय में खूब उदारता आ गई थी। वे जानते थे कि त्याग और दान से मनुष्य घाटे में कदापि नहीं रह सकता। अगर भाग्य में लक्ष्मी है तो दान देने पर भी वह आये बिना नहीं रहेगी। और यदि भाग्य में नहीं होगी तो दान न देने पर भी किसी प्रकार चली जायगी। लक्ष्मी के जाने के सैकड़ों मार्ग हैं। यही नहीं, अगर लक्ष्मी स्थिर हो सकती है तो दान के प्रभाव से ही हो सकती है। दान एवं त्यागी लक्ष्मी को कस कर बाँध रखने के लिए हथकड़ी-बेड़ी है। लक्ष्मी की वास्तविक रक्षा दान देने से ही होती है:—

उपार्जितानां वित्तानां, त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां, परीवाह इवाम्भसाम् ॥

उपार्जित किये हुए धन की रक्षा उसका त्याग करना ही है। जो लक्ष्मी संचित तो कर ली जाती है, परन्तु उसका सत्कार्य में व्यय नहीं किया जाता वह पोखर में भरे पानी की तरह बेकार हो जाती है। इसी कारण भगवान् ने धर्म का

वर्गीकरण करते समय दान को प्रथम स्थान दिया है। दान से लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के लाभ होते हैं। यथाः—

दानेन भूतानि वशीभवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानै-
र्दान हि सर्वव्यसनानि हन्ति॥

अर्थात्—दान के प्रभाव से समस्त प्राणी वशवर्त्ती बन जाते हैं। दान वैरभाव को भी नष्ट कर देता है। दान के प्रताप से पराया भी अपना-बन्धु—बन जाता है। दान की महिमा का कहाँ तक बखान किया जाय, सच तो यह है कि दान मनुष्य की समस्त आपत्तियों का अन्त कर देता है।

गृहस्थ कितना ही विवेकशील क्यों न हो, कितनी ही यतना से वर्त्ताव क्यों न करे, फिर भी वह आरंभ-समारभ के दोष का भागी हुए बिना नहीं रहता। प्रतिदिन उसे आरभजन्य दोष लगते रहते हैं और उसके पाप के खाते की रकम में वृद्धि होती जाती है। इस रकम को कम करके अपने पापों का भार हल्का करने का प्रधान साधन दान है। दान को गृहस्थ की शुद्धि का कारण बतलाया गया है, कहा है—

गृही दानेन शुद्धयति।

जैसे कांसे का पात्र भस्म रगड़ने से शुद्ध होता है, नारी शील से शुद्ध होती है, साधु तपस्या से शुद्ध होता है, उसी प्रकार गृहस्थ दान से शुद्ध होता है।

जिनदास और सुगुणी दान के इस महत्त्व को भली भाँति समझते थे। अतएव वे प्रतिदिन यथोचित दान दिया करते थे। कोई साधु या साध्वी उनके घर से खाली नहीं जाते थे। उन्हें चढ़ते परिणामों से वह आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, औषध शास्त्र आदि आवश्यक सामग्री देकर अपने गृहस्थ जीवन को धन्य मानते थे। यही नहीं, वह प्रत्येक स्वधर्मी को अपना भाई समझते थे। अतः जब जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती, उसे वही वस्तु देकर अपने धर्म-प्रेम का परिचय देते थे। नगर में किसी स्वधर्मी पर संकट आ पड़े तो उसे अपना ही संकट समझ कर दूर करने का प्रयत्न करते थे। कोई रोग-ग्रस्त हो तो उसकी कुशल-क्षेम पूछने जाते, उसे सान्त्वना देते और किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता होती तो सहायता देते। उनकी दृष्टि में सधन और निर्धन समान थे। वे निर्धनों के घर भी उसी प्रकार जाते जैसे धनवानों के घर जाते थे। कोई स्वधर्मी अजीविकाहीन होता तो उसे आजीविका देते। किसी को विशिष्ट समारोह के अवसर पर विशिष्ट वस्तुओं की आवश्यकता होती-तो बड़े प्रेम से उसे देते थे। तात्पर्य यह है कि स्वधर्मियों के प्रति उनके अन्तः करण में गहरा वात्सल्य का भाव था और उस वात्सल्य भाव को वे कार्य रूप में भी परिणत करते रहते थे।

अनाथों और विधवाओं के पालन-पोषण की उन्हें अत्यन्त चिन्ता रहती थी। इस विषय में वे स्वधर्मी-विधर्मी का भी अन्तर नहीं करते थे। सब की समान भाव से सहायता एवं सेवा करते थे। उनकी इच्छा थी कि इस नगर में हमारे रहते

कोई अनाथता का अनुभव न करे, कोई जीवनोपयोगी वस्तु से वंचित रह कर कष्ट न पाए।

कुछ लोगों की धारणा हो गई है कि श्रावक कुपात्र है। उसे सहायता पहुँचाने से पाप होता है। वे दीन, हीन, अपंग और अनाथ को दान देने में भी एकान्त पाप बतलाते हैं। किन्तु यह विचार अत्यन्त हेय है और जैनधर्म से सर्वथा विपरीत है। अनुकम्पा पूर्वक दिये जाने वाले दान में पात्र-अपात्र का विचार करना दया का घात करना है। संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं जो अनुकम्पा का पात्र न हो। दीनों और दुखियों पर अगर अनुकम्पा न की जाय तो फिर किस पर की जायगी ? इसी लिए कहा हैः—

इय मोक्षफले दाने, पात्रापात्रविचारणा।
दयादानं तु सर्वज्ञे, कुत्रापि न निषिध्यते॥

मोक्ष रूप फल के लिए धर्मबुद्धि से दिये जाने वाले दान में पात्र-अपात्र का विचार किया जाता है; किन्तु पुण्य को उत्पन्न करने वाले दया दान को सर्वज्ञ भगवान् ने किसी के लिए निषेध नहीं किया है। अनुकम्पादान के लिए कोई अपात्र नहीं है।

इस तथ्य को समझने के कारण जिनदास और सुगुणी प्रत्येक दीन, हीन, गरीब, अपंग और अनाथ को दयाभाव से दान दिया करते थे।

पहले कहा जा चुका है कि—'दानेन भूतानि वशीभवन्ति' अर्थात् दान देने से सभी प्राणी वशीभूत हो जाते हैं। इस कथन

के अनुसार अपनी दानशीलता और उदारता के कारण जिनदास और सुगुणी की दूर-दूर तक कीर्त्ति फैल गई थी। नगर-निवासी सभी उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे। वे सभी के मित्र थे और सभी को अपना मित्र समझते थे। कोई उनका विरोधी नहीं था। किसी को उनके व्यवहार से असन्तोष नहीं था।

जिनदास और सुगुणी दान के साथ शील, तप और भावना रूप चतुर्विध धर्म का पालन कर रहे थे और अपने व्यवहार से लोगों को दिखला रहे थे कि जैनधर्म का अनुयायी श्रावक कैसा होता है ?

× × × ×

एक बार सुख-शय्या पर सोती हुई सुगुणी ने, रात्रि के अन्तिम प्रहर में एक शुभ स्वप्न देखा। स्वप्न में उसे दिखाई दिया कि एक पुण्यवान् जीव ने आकर मेरे यहाँ जन्म ग्रहण किया है।

तीसरे महीने उसे दोहद हुआ कि मैं धर्म करूँ और दान दूं। कहते हैं, गर्भ का बालक जैसा होता है, माता की इच्छा वैसी ही होती है। सुगुणी के अन्तःकरण में धर्म और दान करने की जो अभिलाषा हुई, उसी से अनुमान किया जा सकता है कि भविष्य में जन्म लेने वाला बालक कैसा धर्मात्मा होगा।

धीरे धीरे सातवाँ महीना लग गया। इस मास में जिनदास के घर अग्रणी-उत्सव का आयोजन किया गया। चार

प्रकार का भोजन-अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य-प्रतिदिन स्वधर्मियों को और अनाथों को जिमाया जाने लगा। दुखी जनों का विशेष रूप से पोषण किया गया।

दोनों-पति एवं पत्नी की धार्मिकता बढ़ने लगी। वे धर्म को दिपाने लगे। जिस धर्म के प्रभाव से उन्हें सब सुख मिले, उस धर्म को वे क्यों न दिपाते ?

२०

माता-पिता का वियोग
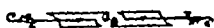
अब पाठक एक बार फिर महेन्द्रपुर की ओर ध्यान दें। जिस रात्रि में महाभाग जिनदास और सुगुणी ने अपने पैत्रिक भवन का परित्याग किया और जंगल की राह ली, उसी रात्रि में उनके तीनों भाई एकत्र हुए। तीनों की पत्नियाँ भी वहीं आ गईं। छहों प्राणी आपस में मिल कर प्रसन्नता प्रकट करने लगे। उस दिन, नगर के बाहर जो घटना घटित हुई थी, उसी को लेकर तीनों भाई अपनी लक्ष्मियों की प्रशसा के पुल बाँध रहे थे और खुश हो रहे थे।

आवड़कुमार ने कहा—भाई जावड़ ! लोग कहते हैं, स्त्रियों में बुद्धि नहीं होती। मगर आज इस त्रिपुटी ने इस कथन का खण्डन कर दिया। आज इन्होंने अवसर देख कर जो रुख अख्तियार किया, वह बड़ा बुद्धिमत्ता पूर्ण था।

जावड़—निस्सन्देह, हम लोगों से इन्होंने बाजी मार ली। हम लोग जो न कर सके, इन्होंने कर दिखाया।

खावड़—बड़ी भौजाईजी ने तो कमाल ही कर दिखाया ! इनकी सूझ भी गज़ब की है। स्वप्नों की कल्पना करना और फिर उनका ऐसा उपसंहार करना मामूली बात नहीं है। इन्होंने तो उपन्यास लेखकों के भी कान काट लिये हैं। आज की घटना देख कर मुझे एक कवि की उक्ति याद आती है:

न च भार्यासमं किञ्चिद्विद्यते भिषजां मतम् ।
औषधं सर्वदुःखेषु, सत्यमेतत् ब्रवीमि ते ॥

अर्थात्—मैं तुम्हें सत्य कहता हूँ कि इस ससार में स्त्री के समान और कोई औषध नहीं है। नारी सभी रोगों की दवा है।

बड़ी भाभी—मालूम होता है, यह कवि कोई पुरुष था। इस कारण उसने नारी की प्रशसा करने में कंजूसी की है।

खावड़—ठीक कहती हो भाभी, उसे कहना चाहिए था कि स्त्री सब रोगों की दवा भी है और वैद्य भी है। क्यों ठीक है न ?

सब लोग खिल खिला कर हँसने लगे।

आवड़—कुछ भी हो, प्रेम, संगठन, एकता, लोकलाज आदि के जो अनेक रोग हमें परेशान कर रहे थे, आज उनसे छुटकारा मिल गया। हम लोग कल ही अलग हो जाएँगे।

खावड़—तो कल बड़ी भाभी को अभिनन्दन पत्र भेंट किया जाना चाहिए।

बड़ी भाभी—तुम लोगों का दब्बूपन देख कर कौन कह सकता है कि कल क्या होगा ?

आवड़—चिन्ता न करो, हम तुम्हारे चेले हो गये हैं। अब नहीं दबेंगे। अलग होने की कुंजी हाथ आ गई है।

बड़ी भाभी—मगर यह बुड्ढा-बुढ़िया हमारे रास्ते में आड़े आ जाते हैं।

जावड़—सब ठीक हो जायगा। तुम्हारी दवा इतनी असरकारक है कि कल तक भी उसका असर कम नहीं होगा।

खावड़—बस, अब आनन्द ही आनन्द है। मौज करेंगे। स्वाधीन होकर रहेंगे।

+ + +

पाठक भूले न होंगे कि आवड़, जावड़ और खावड़ का जन्म होने पर सोहन साहू की कैसी दुर्दशा हो गई थी ! उन्हें घास की झोंपड़ी में रहने को विवश होना पड़ा था। इन अभागे जीवों के अवतरित होते ही सोहन साहू की करोड़ों की लक्ष्मी अचानक ही विलीन हो गई थी। भाग्य से जिनदास का जन्म हुआ तो उनके दिन बदले। फिर सम्पत्ति हुई और आराम से सब के दिन कटने लगे।

सोहन साहू को यह रहस्य ज्ञात था। इसी कारण वे चाहते थे कि सब सम्मिलित रहें तो श्रेष्ठ होगा। जिनदास का पुण्य ही सब को सुखी बनाये हुए है। अगर यह लोग उससे अलग हो जाएँगे तो दाने-दाने को मुँहताज होंगे। किन्तु इन

छहों प्राणियों का उग्र पाप अपना प्रभाव दिखला रहा था। अतएव इनके चित्त में दुर्मति उत्पन्न हुई। परिस्थिति ऐसी आ गई कि सब का सम्मिलित रहना अशक्य हो गया। तब अपने परिवार को छिन्नभिन्न होने से बचाने के लिए पुण्यमूर्त्ति दम्पति को घर त्यागना पड़ा।

जिनदास का चला जाना पुण्य का चला जाना था। सुगुणी की विदाई लक्ष्मी की बिदाई थी।

एक ओर छहों प्राणियों को जुदा होने की उतावल लग रही थी, दूसरी ओर सोहन साहू अपनी सम्पत्ति के विभाग कर रहे थे और तीसरी ओर पुण्य तथा लक्ष्मी इस को नमस्कार करके विदा हो रहे थे।

उस रात छहों को नींद नहीं आई। वे बार-बार दबे पाँवों सेठजी को धन का हिस्सा करते देख जाते और अत्यन्त प्रसन्न होते थे।

वह रात्रि उन्हें बड़ी लम्बी प्रतीत हुई। बड़ी प्रतीक्षा के पश्चात् अरुणोदय हुआ। ये लोग बेचैन हो रहे थे। अरुणोदय होते ही छहों मिल कर सोहन साहू के पास जा धमके। कहने लगे—लाइए, हमारा हिस्सा दे दीजिए। देरी करने से अनर्थ हो जायगा।

आबड़ बोला—और हिसाब भी दिखला दीजिए। देखना पड़ेगा कि हिस्सा बराबर हुआ-है या नहीं ?

खावड़—आपने अपने पास कितना रख लिया है ?

सोहन सेठ का कलेजा व्यथित हो गया। विष से बुझे वचन-बाण खाकर वह तिलमिला उठे। सोचने लगे—यह दिन देखने के पहले ही मेरी मौत हो जाती तो कितना सौभाग्य होता ! यह कपूत मुझे बेईमान समझते हैं !

प्रकट में उन्होंने कहा—सभी कुछ बतला देंगे। उतावल न करो। तुम जिस सुख के लिए लालायित हो रहे हो, वह शीघ्र ही पा जाओगे ! घबराते क्यों हो ! जिनदास को भी आ जाने दो।

तीनों लड़के बोले—वह महाआलसी है। उसे किसी तरह की फिक्र ही नहीं ! निर्लज्ज को लज्जा ही नहीं कि इतना दिन चढ़ गया है और पड़ा सो रहा है।

सेठ—जाओ, उसे बुला लाओ।

तीनों बड़बड़ाते हुए जिनदास के कमरे की ओर चले। कमरे के किवाड़ बंद देख कर उन्हें बड़ा गुस्सा आया। कई हलके वचन कह-कह कर आवाज़ लगाने लगे; परन्तु भीतर से कुछ भी उत्तर न मिला। तब एक ने कहा—बेशर्म की नींद तो देखो ? पूरा कुंभकर्ण है।

फिर तीनों मिलकर हल्ला मचाने लगे और किवाड़ भड़भड़ाने लगे। फिर भी कोई उत्तर नहीं !

यह हाल देखकर उन्हें कुछ सन्देह हुआ। किवाड़ों के छेद में से देखा तो अन्दर कोई दिखाई न दिया। इधर-उधर

नज़र डाली तो पता चला कि सड़क की तरफ की खिड़की के किवाड़ खुले हैं। आखिर उन्होंने कमरे के किवाड़ उघाड़े और भीतर प्रवेश किया।

कमरे के भीतर आकर उन्होंने जो देखा तो चकित और विस्मित हो गये। तीनों एक दूसरे को प्रश्न-भरी निगाहों से देखने लगे। जिनदास और सुगुणी के समस्त आभूषण और वस्त्र पलंग पर बिखरे पड़े थे। उनके पास जो नकदी थी, वह भी वहीं पड़ी थी। स्पष्ट ज्ञात पड़ता था कि दोनों सर्वस्व त्याग कर चले गये है। साथ में कुछ नहीं ले गये।

एक ने कहा—ये किधर से चले गये ?

दूसरे ने खिड़की की ओर देखा तो रस्सी लटक रही थी। उसे देखते ही समझ में आ गया कि दोनों इधर से कहीं खिसक गये हैं।

इस अवसर पर कठोर से कठोर हृदय भी द्रवित हुए बिना न रहता। अपने छोटे भाई का और अनुजपत्नी का यह अपूर्व और अद्भुत त्याग पत्थर के कलेजे को भी मोम बना देने के लिए पर्याप्त था। किन्तु इन तीनों भाइयों का कलेजा न जाने किस फौलाद से भी बढ़ कर कठोर धातु से बना था कि उन्हें तनिक भी करुणा न आई। यही नहीं, अत्यन्त प्रसन्न हुए। कहने लगे-चलो, झंझट मिट गई। जिसके कारण हमें नीचा देखना पड़ता था, वह चला गया। सम्पत्ति के चार हिस्से न होकर अब तीन ही होंगे। यह भी अच्छा ही हुआ।

आखिर आभूषण और नकदी लेकर तीनों पिता के पास आए। बोले-पिताजी ! सहज ही पाप कट गया। लीजिए, यह सँभालिए।

सेठजी के हृदय को अचानक भारी आघात लगा। वह हक्के बक्के रह गये। पूछने लगे-क्यों ? क्या हुआ ? नन्हा कहाँ रह गया ?

लड़के—वे दोनों कहीं भाग गये हैं।

यह सुनते ही सेठ और सेठानी अपने शोक के वेग को सँभाल न सके। वे मूर्छित होकर ज़मीन पर गिर पड़े। होश आने पर पानी के विना जैसे मछली तड़फती है; वैसे ही तड़फने लगे, छटपटाने लगे और थोड़ी-सी देर में ही दोनों चल बसे।

यह दशा देख कर छहों प्राणी बुरी तरह घबराये। फिर उन्होंने दोनों के गहने उतार कर दोनों लाशों को बाहर निकाला। गहने कमरे में बंद करके लोक-दिखावा करने के लिए रुदन आरंभ किया।

रोने की आवाज़ सुन कर परिवार के लोग दौड़ कर आए। उन्होंने एक ही साथ दो लाशें देख कर कहा—क्या हो गया अचानक ही ?

दूसरे ने कहा—जिनदास नहीं दीख रहा है ? वह कहाँ गया ?

रोते-रोते आवड़ ने कहा—जिनदास अपनी पत्नी के साथ रात्रि को कहीं चला गया। उसका पता नहीं। वह आन

कर पिताजी और माताजी बेहोश होकर गिर पड़े और क्षण भर में प्राण त्याग कर चल बसे। अब क्या करना चाहिए ?

एक स्वजन—क्या करना चाहिए ! अरे, तुम्हें हँसना चाहिए। रोते क्यों हो ?

कल वाली घटना सब को मालूम थी। सब जानते थे कि यह छहों प्राणी अत्यन्त दुष्ट हैं। इसी कारण उसने यह ताना मारा।

दूसरे स्वजन ने कहा—अपने किये कर्मों का फल भोगो। अब तुम छहों पूर्ण सुखी हो गए। सब विघ्न-बाधा दूर हो गई। रास्ते के काँटे हट गए। अब स्वर्गीय सुखों को भोग सकोगे !

तीसरा स्वजन-धर्मी जीव को घर से निकाल कर ही दम लिया ! हमेशा उससे ईर्षा ही करते रहे। अन्त में माता-पिता को भी जला-जला कर मार डाला। अभागे कहीं के !

माता-पिता की लाशें सामने पड़ी थीं। लोग इस प्रकार कह कर उन्हें सान्त्वना दे रहे थे ! इसी से समझा जा सकता है कि उनका पाप कितना प्रभाव दिखला रहा था !

२१

सर्वस्व स्वाहा !

आखिर स्वजनों और नगरजनों ने मिल कर सोहन शाह और उनकी पत्नी का दाह संस्कार किया। उनके मृत्यु-कारज की तैयारी होने लगी। छहों प्राणी इसी झमेले में लग गये। उन्होंने सेठजी के कमरे में, जिसमें घर की समस्त सम्पत्ति बँटवारे के लिए एकत्र करके रक्खी थी, खूब मज़बूत ताला डाल दिया था। परन्तु कहावत है—

विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।

अर्थात् जब विनाश का समय आता है तो बुद्धि उलटी हो जाती है।

यह उक्ति इन लोगों पर भी लागू हुई। उन्होंने सेठजी के कमरे के द्वार पर तो ताला लगाया, पर सड़क की तरफ जो खिड़की थी, उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। खिड़की खुली रह गई। परिणाम यह हुआ कि एक बार रात को चोर घुस गये और घर की समस्त सम्पत्ति लेकर चले गये। इन लोगों को इस घटना का पता ही नहीं चला।

छहों प्राणी सोचने लगे—अब अलग-अलग होने में कुछ भी विघ्न नहीं रहा है। माता-पिता के कारज से निपट कर सम्पत्ति का बँटवारा कर लेंगे। जल्दी करने से लोग और अधिक निन्दा करेंगे। यों ही सारे शहर मे लोग हमें भांड रहे हैं, अलग होने में जल्दी की तो मुंह पर कालिख ही पुत जायगी। उन्होंने यह भी विचार किया कि इस समय नगर भर में हमारी बदनामी हो रही है। इस बदनामी को दूर करने का एक उपाय यह है कि ठाठ के साथ माता-पिता का कारज किया जाय। लोगों के मुंह मीठे होंगें तो हमारा कलंक दूर हो जाएगा।

इस प्रकार निश्चय करके तीनों भाइयों ने खूब उदारता के साथ कारज करने का निश्चय कर लिया। दुकानदारों को माल के बड़े-बड़े ऑर्डर दिये गये। सब चीज़ें उधार खरीदी गई और बड़े भोज की तैयारी की गई। यथासमय सभी स्वजन, परिजन, स्नेही और संबधी आमंत्रित किये गये। सब को भोजन कराया गया। 'लाहणी' दी गई।

उर्दू के दाग कवि ने कहा है।

हज़रते दाग जहाँ जम गये जम गये।

कलंक एक बार लग जाता है तो लग ही जाता है; लाख प्रयत्न करने पर भी वह दूर नहीं होता। लोग माल भी खा गये और बदनामी भी करते रहे। जिसके मुंह में जो आया, वही कहते रहे। यह देख कर छहों प्राणियों को बड़ी निराशा हुई। फिर भी वे सोचते थे कि नई बात नौ दिन की है। धीरे-धीरे

लोग इस दुर्घटना को भूल जाएँगे और हमारी प्रतिष्ठा जैसी की तैसी हो जाएगी। उन्हें क्या पता था कि प्रतिष्ठा और कीर्त्ति भी पुण्य के परिणाम हैं! विना पुण्य के किसी को न प्रतिष्ठा मिलती है न कीर्त्ति मिलती है।

नगरसेठ को अपनी पुत्री और जामाता के चले जाने का बहुत विषाद हुआ। फिर भी वह धर्म के ज्ञाता होने के कारण समता धारण करके रह गये।

जब तीनों भाई मृत्यु-कारज करके निवृत्त हो गए और दिखावटी शोक से भी मुक्त हो गए तो उन्हें धन के बँटवारे की चिन्ता हुई। तीनों बड़ी उमंग के साथ सेठजी के कमरे पर पहुँचे। जाकर कमरा खोला और जो कुछ देखा, उससे उनकी छाती धक् से रह गई! न वहाँ पाई भर धन था और न मूल्यवान् वस्त्र ही थे। देखा तो खिड़की खुली पड़ी थी। उन्हें समझते देर नहीं लगी कि इसी खिड़की के रास्ते उनका सौभाग्य हवा हो गया है!

वह सोचने लगे—हाय! जिस धन के लिए अपने अनुज के साथ द्रोह किया, माता पिता को बुरी तरह व्यथित करके मौत के मुँह में पहुँचाया, एक निर्दोष नारी को दुःखी किया, लोकापवाद की परवाह न की; जिस धन के लिए मनुष्यता को भी तिलांजलि दी, जिसके लिए कुटुम्ब की कीर्त्ति पर कालिमा पोती और सभी प्रकार के अयोग्य काम किए, वही धन सहसा गायब हो गया! पता ही नहीं चल पाया कि कब और कैसे चला गया!

तीनों की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। हृदय उमड़ पड़ा। शरीर जैसे निस्सत्व हो गया। शोक और दुःख के प्रबल आवेग से वे बेचैन हो उठे। तन-बदन की सुध भी भूल गए।

तीनों समझ गये थे कि वे जनता की निगाह में गिर गये हैं। लोग उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अब धन चले जाने का समाचार कहें तो किससे कहें? कौन हमारे प्रति सहानुभति प्रकट करेगा? कौन हमारे ऊपर दया दिखलाएगा। जिससे अपने दुर्भाग्य की कथा कहेंगे, वही ताने मारेगा, वही हँसेगा और हमारे दुःख को बढ़ाएगा। आज कोई हमारा नहीं दिखाई देता जो हमारे दुःख में साझीदार हो!

इस प्रकार सोचकर तीनों भाई ज़हर का घूंट पीकर रह गए। मगर इतने मात्र से उनका निस्तार नहीं हो सकता था। उन्होंने बाजार से बहुत-सा माल उधार खरीद लिया था और अधिक दिन दाम चुकाये बिना चल नहीं सकता था। दुकानदार तकाज़े करने लगे। तकाजों के मारे इनका नाकों दम हो गया। मगर देने को अब क्या रखा था? बँटवारे के उद्देश्य से सम्पूर्ण सम्पत्ति एक ही जगह एकत्र की गई थी और वह सभी चली गई थी। अतएव चुकाएँ तो कहाँ से चुकाएँ? ऐसी स्थिति में उन्हें ऋण भी कौन देता?

देनदार अगर नम्र हो और नम्रता प्रदर्शित करके कुछ मुहलत माँग ले तो भी काम चल सकता है। इन तीनों भाइयों में यह गुण भी नहीं था। तीनों अकड़बाज़ थे। अतएव जब तकाज़े पर तकाज़े आने लगे तो इन लोगों ने लड़ाका रुख अख्तियार

किया। जो दाम माँगने आता, उसी से लड़ पड़ते। उसे मारने दौड़ते। असल में पापकर्म के उदय से उनकी बुद्धि मारी गई थी। अतएव उन्हें विपरीत ही विपरीत सूझता था। वास्तव में जब पापकर्म का उदय आता है तो सारी परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो जाती हैं। कहा भी है:—

> *बन्धुर्वैरिजनायते गुणवती कान्ता च सर्पायते,*
> *मित्रं चापि खलायते गुणनिधिः पुत्रोऽप्यमित्रायते।*
> *श्रीखण्ड दहनायते श्रवणयोः सूक्तं तु शूलायते,*
> *जाते पुण्यविपर्यये तनुभृतामर्थोऽप्यनर्थायते ॥*

अर्थात्—पुण्य का क्षय होने पर और पाप का उदय होने पर प्रेमी जन भी वैरी के समान आचरण करने लगते हैं। गुणवती पत्नी भी सर्पिणी का रूप धारण कर लेती है। मित्र शत्रु बन जाते हैं। गुणों का भण्डार पुत्र भी दुश्मन के समान दुःखदायी हो जाता है। शीतलता देने वाला चन्दन भी आग की नाईं जलाने लगता है। मधुर से मधुर और हितकर से हितकर बात भी कानों में कांटे के समान चुभने लगती है। अर्थ भी अनर्थ का कारण बन जाता है।

अब आवड़, जावड़ और खावड़ एकदम पाप से घिर गये थे। अतएव उनके स्नेही जन भी उनसे दूर रहते थे। उनकी परछाई से भी किनारा काटते थे। उनके मित्रों ने मुँह दिखाना बन्द कर दिया था। स्वजन भी सीधी तरह बात नहीं करते थे। इतने दिनों तक तीनों भाई एकमत रहे थे, पर अब उनमें भी
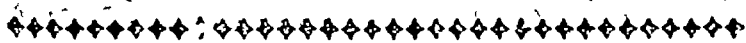
मनोमालिन्य होने लगा था । वे खिड़की खुली रखने के लिए एक दूसरे पर दोषारोपण करते थे । पति-पत्नियों में भी पहले जैसी नहीं बन रही थी । तीनों भाई अपनी-अपनी स्त्रियों को कोसते थे और उन्हीं को इस दुर्दशा का कारण बतलाते थे । कहते थे-तुम्हीं को अलग होने की उतावल लग रही थी । अलग होने के लिए तुम्हीं ने झगड़ा खड़ा किया और घर बर्बाद हो गया । स्त्रियाँ उनसे हार मानने वाली नहीं थी-वह उत्तर देतीं-अपनी मूर्खता से सारी सम्पत्ति गंवा बैठे और हमारे ऊपर ताव कसते हो ? हमें लाल आँखें दिखलाते हो ? क्या हमने कहा था कि कमरे की खिड़की खुली रख देना ! क्या हमारे कहने से उधार माल मँगवा कर लोगों को खिलाया था ? जैसा किया वैसा भोगो । हम क्या करें ?

इधर घर में कलह की आग धधकने लगी और उधर बाहर आपत्ति के पहाड़ खड़े हो गए। इस प्रकार तीनों भाई अत्यन्त दुखी हो गये। उन्हें घड़ी भर भी चैन नहीं थी । किस प्रकार परिस्थिति का सामना किया जाय, यह सूझता नहीं था ।

लेनदारों को जब निश्चय हो गया कि इन लोगों के पास फूटी कौड़ी भी नहीं बची है और यह नागाई पर उतर आये हैं, तब उन्होंने न्यायालय की शरण ली । राज-कर्मचारियों ने आकर जाँच-पड़ताल की और हवेली नीलाम कर दी । हवेली की जो रकम आई, वह लेनदारों ने आपस में बाँट ली । अब यह छहों प्राणी पूरी तरह निराधार हो गए ।

वे जहाँ जाते, वहीं धिक्कार के पात्र बनते थे । लोग

उनकी ओर उँगली उठा कर कहते थे—अजी, यह वही हैं जिन्होंने धर्ममूर्त्ति जिनदास जैसे देवता को घर से बाहर निकाल दिया था और अपने माँ-बाप को मौत के मुँह में पहुँचा दिया था! आज अपने उत्कट पापों का फल भोग रहे हैं।

कोई-कोई तो उनके सामने ही कह देते थे—इन्हें पास में खड़ा मत रहने दो। इनका मुख देखना भी महापातक है। यह पापी जीव हैं। पापियों की संगति से भी पाप लगता है।

इन लोगों को रहने को स्थान नहीं था। खाने को अन्न का दाना नहीं था। वस्त्र भी जीर्ण-शीर्ण हो गए थे। ऊपर से अपकीर्त्ति अलग हो रही थी। कहीं खड़े होने और किसी से बात करने में भी उन्हें लज्जा आती थी।

इस परिस्थिति से छहों प्राणी अत्यन्त घबरा उठे। उनके दुःखों का पार न रहा। मगर प्रश्न तो यह था कि करें तो क्या करें? कोई उपाय भी तो नज़र नहीं आ रहा था। बुद्धि काम ही नहीं करती थी। यद्यपि अब उनकी पहले वाली अकड़ हवा हो चुकी थी। वे दीनता के पुतले बन गये थे। फिर भी उन पर किसी को दया नहीं आती थी।

एक दिन छहों प्राणियों ने मिलकर सलाह की—अब इस नगर में हमारा रहना संभव नहीं है। यहाँ हमारी उतनी भी इज़्ज़त नहीं है, जितनी गली-गली में भटकने वाले कुत्ते की है! अतएव इस नगर को छोड़ कर परदेश चल देने के सिवाय कोई रास्ता नहीं है। परदेश में भीख मिल सकती है, मज़दूरी मिल
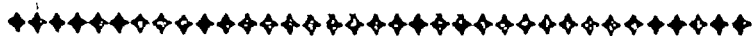
सकती है। यहाँ न भिक्षा मिल सकती है, न मज़दूरी ही। यहाँ के लोगों की निगाह में हम गिर चुके हैं। अनजान जगह में चलेंगे तो लोग इतनी घृणा तो नहीं करेंगे !

इस उपाय के अतिरिक्त किसी को और कोई उपाय नहीं सूझा। अतएव सर्व-सम्मति से महेन्द्रपुर छोड़ देने का निश्चय हो गया। उनके पास कोई सामान तो बचा नहीं था। शरीर पर कपड़े थे और कुछ ठीकरे सरीखे बरतन थे। रात्रि के समय उन्होंने वह उठाये और चल दिये।

वे कुछ ही दूर पहुंचे थे कि रास्ते में चोर मिल गए। उन्होंने इन्हें लूटने के इरादे से घेर लिया। पास में आकर खानातलाशी ली तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। एक चोर बोला—अपशकुन हुआ। इन दरिद्रों के पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं। कोई लेने योग्य सामान भी नहीं।

दूसरा चोर—जो है वही ले लो, अन्यथा बौनी ही बिगड़ जाएगी।

इस प्रकार सलाह करके चोरों ने उनके कपड़े छिन लिये। कोढ़ में खाज की कहावत चरितार्थ हुई। चोरों ने औरतों के कपड़े रहने दिये, तीनों भाइयों को उघाड़ा कर दिया। उस समय इन छहों प्राणियों के मन में क्या-क्या विचार आए होंगे, यह जानना कठिन है।

छहों प्राणी अत्यन्त घोर दुःख से पीड़ित होते हुए आगे बढ़े। कुछ दूर तक चुपचाप ही चलते रहे। कोई किसी से बोला

नहीं। सब मन ही मन असह्य संताप का अनुभव कर रहे थे अपने कृत्यों के लिए पश्चात्ताप कर रहे थे। उन्हें पिताजी का स्मरण हो आया। जो पिता जीवित अवस्था में उन्हें दैत्य के रूप में दिखलाई देते थे, वही अब देवता मालूम होने लगे उनकी एक-एक बात याद आने लगी। उन्होंने कहा था— 'जिनदास के पुण्य से सब सुख भोग रहे हो!' उस समय उनकी यह बात हमें अपमान जनक प्रतीत हुई थी। हम सोचते थे कि पिताजी पक्षपात के कारण ही ऐसा कह रहे हैं। क्या पता था कि उनके इस कथन में कूट-कूट कर सत्य भरा है उस समय हमारी आँखें अंधी हो रही थीं।

जिनदास!! कितना नम्र था? उसने हमारे सामने कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा हमने उसके साथ कभी सद्व्यवहार नहीं किया। सदैव उससे द्वेष किया। उसे निकम्मा और आलसी समझा। परन्तु उसने हम में से किसी का अविनय नहीं किया। कभी मुख से एक शब्द भी अनुचित नहीं कहा कितना स्नेही, कितना सरल, कितना सहिष्णु, कितना शान्त और कितना धर्मनिष्ठ था वह! खेद है कि उस समय हम उसे पहचान न सके।

और सुगुणी भी क्या कम थी? सुशीलता की प्रतिमा शान्ति की मूर्त्ति और सौजन्य का अवतार थी। उसने अपनी जेठानियों के हजारों ताने सहे, हजार बार अपमान सहन किया, किन्तु क्या मजाल कि उसकी ओर से कभी कोई अयोग्य आचरण हुआ हो!

सम्पत्ति के प्रति उनकी कितनी निस्पृहता थी ? जिस सम्पदा के लिए हमने निन्दनीय कुकर्म किये, उसे वे कितनी सरलता से छोड़ कर चले गये ! अपने अंग पर एक अगूठी भी नहीं रहने दी !

कौन जानता था कि जिनदास और सुगुणी के जाते ही परिवार का नक्शा बदल जाएगा। उनका घर त्याग करना हमारी विपत्ति का कारण बन गया। पर इसमें दोष हमारा ही है, उनका नहीं। हमने उन्हें मजबूर किया तब वे गये। वे गये और हमारे सुख के दिन भी चले गए।

इस प्रकार पश्चात्ताप की आग में जलते हुए वे चलते-चलते एक गाँव में पहुँचे। वहाँ अन्य उपाय न देख उन्होंने भीख माँग कर किसी तरह उदरदेव की अभ्यर्थना की। ग्रामीणों के फटे-पुराने वस्त्र माँग कर अपने उघाड़े तन को ढँका। उन्होंने नौकरी पाने का प्रयत्न किया, पर सफलता न मिली। उनका अशुभ कर्म उन्हें कहीं टिकने ही नहीं देता था। सच है, कृत कर्म अपना फल दिये बिना नहीं रहते।

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म, कर्त्तारमनुगच्छति ॥

हजारों गायें खड़ी हों और बछड़े को छोड़ दिया जाय तो वह सब को छोड़ कर अपनी माता के पास पहुँच जाता है। इसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्त्ता को पकड़ लेता है।

बछड़ा कदाचित् अपनी माता को भूल जाय तो भूल

जाय, पर कर्म कर्त्ता को नहीं भूल सकता। वह अपना फल दिये विना नहीं रह सकता। यह छह प्राणी अपने कर्मों का फल भोग रहे थे। इनकी दशा देख कर दुसरे लोग जो शिक्षा ले सकते हैं वह यही कि प्रत्येक कार्य करते समय उसके फल का विचार अवश्य कर लेना चाहिए। मनुष्य को सोच लेना चाहिए कि आज मैं जो कार्य करने जा रहा हूँ, भविष्य में उसका क्या फल मिलेगा ? अगर इस विचार के पश्चात् कार्य किया जाय तो बहुत-से पापों से और तज्जन्य दुःख से छुटकार मिल सकता है। पर प्रायः लोग ऐसा नही सोचते। वे प्रसन्न होकर, बेभान होकर और भविष्य की अवगणना करके कर्म कर डालते हैं, किन्तु जब उनके कटुक फल सामने आते हैं तो खेद-खिन्न होते है, रोते है और हाय-हाय करते हैं।

हसता क्रियते कर्म, रुदता परिभुज्यते।

अर्थात्—हँस हँस कर कर्मों का बन्ध किया जाता है परन्तु रो-रो कर उनका फल भोगना पड़ता है।

यह छह प्राणी अपने अशुभ कर्मों का फल भुगत रहे थे। वे एक गाँव से दूसरे गाँव में और दूसरे गाँव से तीसरे गाँव में भीख माँगते हुए भटक रहे थे। कहाँ पहुँचना है ? पहुँच कर क्या करना है ? इन प्रश्नों का उनके पास कोई उत्तर नहीं था। पेट पालना ही उनका एक मात्र उद्देश्य रह गया था।

२२

सुगति की महत्ता

निस्सन्देह कर्मों की शक्ति प्रबल है, परन्तु हमें यह विस्मरण नहीं करना चाहिए कि उन्हें शक्ति देने वाला आत्मा ही है। आत्मा की प्रबल वैभाविक शक्ति ही कर्मों को शक्तिशाली बनाती है। आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता है और इसीलिए वह उनके फल का भोक्ता है। आत्मा की शक्ति कर्मों से भी बढ़ कर है। आत्मा कर्मों को अगर उपार्जन कर सकता है तो उन्हें नष्ट भी कर सकता है। आगम स्पष्ट घोषणा करता है:—

अप्पा कत्ता विकत्ता य।

आत्मा में कर्तृत्वशक्ति है और हर्तृत्वशक्ति भी है।

यही नहीं, आत्मा और कर्मों के संघर्ष में आत्मा की ही विजय होती है। कर्मों का क्षय होता है, पर आत्मा का कभी क्षय नहीं होता। कर्म अजर-अमर नहीं, आत्मा अजर-अमर है। आत्मा ने अपनी शक्ति के द्वारा कर्मों की जो काल-मर्यादा निर्माण की है अर्थात् जितनी स्थिति उत्पन्न की है, उससे एक क्षण भी ज्यादा कर्म नहीं ठहर सकते।

पानी का प्रवाह आता रहता है और जाता रहता है, परन्तु सरिता के बीच में जमी हुई चट्टान ज्यों की त्यों बनी रहती है। उसी प्रकार कर्म आते-जाते रहते हैं, परन्तु आत्मा स्थितिमान् ही बना रहता है। न जाने कितने कर्म आज तक बँधे और समय पकने पर क्षीण हो गये, फिर भी आत्मा आज भी विद्यमान है और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा। अतएव किसी भी आत्मा को हताश होने की आवश्यकता नहीं, शस्त्र डाल देने की जरूरत नहीं। उसे कर्मों के साथ संघर्ष करना चाहिए और ज्ञानी जनों द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण करना चाहिए।

किसी भी जीव का कोई भी कर्म, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, स्थायी नहीं रहता। इसी कारण जीव की नाना अवस्थाएँ देखी जाती हैं। हम आबड़, जाबड़ और खाबड़ की स्थिति पर विचार करें तब भी यह बात समझ में आ जाएगी। थोड़े दिन पहले वे सुख में थे; परन्तु भाग्य चक्र पलटा और वे क्या से क्या हो गए! रईस के लड़के देखते-देखते भिखारी बन गए। उनके सुख का अन्त आ गया और भीषण दुःख ने उन्हें घेर लिया। परन्तु क्या उनका यह दुःख सनातन होकर आया था? नहीं, सांसारिक सुख का अत है तो दुःख का भी अत है। शुभ कर्म स्थायी नहीं रहते तो अशुभ कर्म भी नहीं रह सकते।

छहों प्राणियों के अशुभ कर्मों का तीव्र उदय जब तक बना रहा, वे कष्ट पाते हुए इधर-उधर भटकते रहे। जब उन कर्मों की तीव्रता मिटी तो उन्हें अकस्मात् ही पोलासपुर जाने

की बुद्धि आई। पोलासपुर बड़ा नगर था। वे वहाँ पर जा पहुंचे। उन्होंने सोचा—यह एक बड़ा नगर है और यहाँ टिके रहने से आजीविका अवश्य मिल जाएगी। हम लोग तीन दिन के भूखे हैं। आज कुछ न कुछ कमा लाएँगे और पेट में अन्न का दाना डाल सकेंगे।

तीनों स्त्रियाँ कहने लगीं—हमारा दम टूट रहा है। हाथों-पैरों में जरा भी ताकत नहीं रह गई है। भूख से मरी जा रही हैं। एक-एक कदम भी चलना भारी हो रहा है।

आपस में पेट भरने की बातें करते-करते वहाँ बाजार में आ पहुँचे। जिनदास की विशाल हवेली देख कर पुरुषों ने स्त्रियों से कहा—तुमसे चला नहीं जाता तो यहां ठहर जाओ। इस हवेली की शीतल छाया में बैठो। हम लोग जाते हैं और खाने-पीने की व्यवस्था करते हैं। मिहनत-मजूरी करके अथवा भीख माँग करके लाएँगे और अवश्य ही आज तुम्हें भोजन कराएँगे। हां, ध्यान रखना। हम लोग यहीं आकर भोजन करेंगे। तुम इस स्थान को छोड़ना मत। इधर-उधर चल दीं तो कहां खोजते फिरेंगे ?

यह कह कर तीनों भाई अन्न-पानी की खोज में चल पड़े। आज तीनों स्त्रियाँ बहुत बेचैन हो रही थीं। भूख के कारण पेट पीठ से सट गया था। आँखों से ठीक दीख नहीं पड़ता था। अपने जीवन में उन्होंने ऐसी पीड़ा कभी सहन नहीं की थी। परन्तु वे चुपचाप सब कुछ सहन करती आ रही थीं। शिकायत करतीं तो किससे करतीं ? क्या कह कर करती ? उन्होंने ही तो

विष के बीज बोये थे। अब वही उनके फल चख रही थीं। पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसती हुई भी वे कुछ बोल नहीं सकती थीं।

तीनों भाई जब चले गये तो बड़ी जेठानी ने कहा— देखो तो कर्मों की गति ! हम क्या थीं और आज क्या हो गई ? हमें किस चीज़ की कमी थी ? पर जो कुछ प्राप्त था, उसमें हमें सन्तोष न हुआ। हमने उस सुख को तुच्छ समझा और अपने मन से एक नये सुख की कल्पना करके उसकी कामना की। फल यह हुआ कि सभी सुख विदा हो गए। भरी गृहस्थी बुरी तरह उजड़ गई। वास्तव में असन्तोष, लोभ और लालच ही मनुष्य के विनाश के कारण हैं। इन्हीं के कारण मनुष्य दुखी होता है। सन्तोष धारण किया होता और सब मिलजुल कर, हिल-मिल कर प्रेम से रही होतीं तो काहे को आज यह हालत देखनी पड़ती।

मझली जेठानी ने कहा—बात सोलह आने सत्य है बहिन ! एक दिन सुगुणी ने कथा कह कर बतलाया था कि जिस परिवार में एकता होती है, उसमें लक्ष्मी का वास होता है। लक्ष्मी उस घर को छोड़ नहीं सकती। जब तक हमारे घर में एकता रही, लक्ष्मी भी रही। जब से एकता छिन्न भिन्न हुई, तभी से लक्ष्मी भी रूठ गई। हम चारों जनीं प्रेम से रही होतीं तो आज यह दुर्दशा क्यों होती ?

तीसरी बोली—'अब पछताए होत क्या, चिड़ियाँ चुग गईं खेत।' जो बात बीत गई सो बीत गई। अब तो हमें अपने
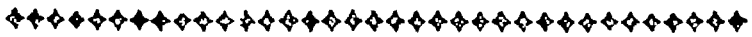
भविष्य की चिन्ता करनी चाहिए। भूत को रोने से क्या लाभ है ?

बड़ी—भूत के लिए रोना सर्वथा वृथा नहीं होता। भूत काल में भूल करके हमने जो गलती है, उससे आगे बचने का बल पश्चात्ताप करने से प्राप्त होता है। जब हम किसी भूल के लिए पछताते हैं तो पुनः उस भूल को न दोहराने का बल मिलता है। भूतकाल की स्मृतियाँ भविष्य को सुन्दर बनाने में सहायक होती हैं। हाँ, भूतकाल की भूलों के लिए पश्चात्ताप किया करना और भविष्य में उनसे बचने का प्रयत्न न करना अवश्य ही वृथा होता है। सुगुणी ने भी तो एक बार ऐसा ही कहा था। जैनधर्म में प्रतिक्रमण और आलोचना करने का जो रिवाज है, उसका यही तो मतलब है।

तीसरी—ठीक है बहिन, मगर हमारे लिए तो वर्त्तमान ही बड़ा विकराल बना हुआ है। किसी प्रकार वर्त्तमान सुधरे तो भविष्य को सुधार लें।

दूसरी—हम निकम्मी बैठी हैं। हमें भी कुछ काम मिल जाता तो कितना अच्छा होता। मिहनत करके पेट भर अन्न पा लेतीं तो आगे की सोचतीं। वे न जाने कब तक लौटेंगे ? कौन जाने काम मिलेगा या नहीं ? कहीं खाली लौटे तो क्या होगा ?

पहली—क्या होगा ? अब होने को क्या शेष रहा है ? जो भाग्य में लिखा होगा वही होगा। हमारे लिए एक ही

रास्ता है-हमारे कर्म जिस स्थिति में रक्खें, जो भी फल दें, उसे शान्ति के साथ भोगे जाओ।

तीसरी—हा दैव! तेरी लीला अपरम्पार है! एक वह हैं जो इस हवेली में स्वर्ग के से सुख भोगते हुए रहते हैं और एक हम हैं जिन्हें खड़े होने को जगह नहीं है। हमारी दशा तो आज इस हवेली के कुत्ते से भी बदतर है। मगर किसी को क्या दोष दें? सब अपने ही दोष हैं। सब अपने-अपने किये का फल भोग रहे हैं। लेकिन बहिन, अब रहा नहीं जाता। पेट में ज्वाला धधक रही है। उसे अन्न का ईंधन न मिला तो वह मेरे शरीर को, मेरे प्राणों को ही जला कर भस्म कर देगी।

× × × ×

जिस समय जिनदास के भाइयों और भौजाइयों की यह दुर्गति हो रही थी, उसी समय जिनदास के चरणों में असीम वैभव लोट रहा था। इसी पृथ्वी पर वह देवलोक के सुखों का उपभोग कर रहा था। कहा जा चुका है कि सुगुणी सगर्भा थी और सातवें महीने में आगरणी उत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं। इस उत्सव के अवसर पर उसके यहाँ विशाल भोज होने वाला था। जिनदास अपने समस्त स्वधर्मी भाइयों को, ज्ञाति-जनों को और स्नेही मित्रों को आमंत्रित करने वाला था। उस भोज के लिए विविध प्रकार की सामग्री तैयार करवाई जा रही थी।

गेहूँ पिसवा कर मैदा बनवानी थी, परन्तु पीसने वाली कोई नहीं मिल रही थी। सुगुणी ने दासी को भेजा कि कहीं से

पीसने वाली खोज ला। दासी इधर-उधर गई, पर निराश होकर लौटी। उसने कहा—बाईजी, बहुत खोज की, आज पिसनहारी नहीं मिली। सुगुणी ने कहा—खैर, ध्यान रखना। कल तक तो आनी ही चाहिए।

इसके पश्चात् सुगुणी ने सहज ही खिड़की से बाजार की ओर दृष्टि डाली तो उसे तीन स्त्रियाँ दिखलाई दी। सुगुणी ने अपनी दासी से कहा—देख, नीचे तीन औरतें खड़ी हैं। उनसे पूछ आ कि क्या उन्हें मज़दूरी चाहिए? अगर वे मैदा पीसने को तैयार हों तो साथ लेती आना। अपना भी काम हो जायगा और उनको भी काम मिल जायगा। जा, जल्दी जा।

दासी ने नीचे जाकर पूछा—क्या तुम्हें मजदूरी करनी है?

बड़ी बोली—बाई, नेकी और पूछ पूछ! हम तो इसी खोज में हैं। जो काम कहो वही करने को तैयार हैं। काम करेंगी और तुम्हारा एहसान मानेंगी।

दासी—तो चलो हमारे साथ!

यह कहकर दासी उन्हें ऊपर हवेली में ले आई। बरामदे में उन्हें खड़ी करके दासी सुगुणी के पास गई। बोली—तीनों मजूरिनें आ गई हैं। उन्हें गेहूँ दे दूं?

सुगुणी—हाँ, इसीलिए तो बुलवाई हैं।

दासी ने जाकर उन्हें गेहूं पीसने को दे दिये। तीनों तीन चक्कियों पर पीसने बैठ गईं।

गेहूँ गीले थे और पीसने वाली तीन दिन की भूखी थीं। उनके हाथों-पैरों में शक्ति नहीं रह गई थी। उन्होंने जल्दी-जल्दी हाथ चलाने का बहुत प्रयत्न किया, पर वह चलने को तैयार न हुए। वह चाहती थीं कि शीघ्र काम समाप्त हो तो खाने की व्यवस्था हो। पर हाथ कहते थे कि पहले खाने की व्यवस्था हो तो हाथ चलें! नतीजा यह हुआ कि काफ़ी समय बीत जाने पर भी गेहूँ बहुत थोड़े पिस सके—नहीं के बराबर!

तब देखभाल करने के लिए अचानक सुगुणी वहाँ आ पहुंची। उसे क्या पता था कि गेहूँ गीले हैं और पीसने वाली तीन दिन की भूखी हैं! उसने देखा—गेहूँ नहीं के बराबर पिसे हैं। यह देख सुगुणी को सहसा क्रोध आ गया और क्रोध ने भी तीव्रता धारण कर ली। उसने सोचा—यह स्त्रियाँ जान-बूझ कर काम करने में ढील कर रही हैं। इनके चित्त में ईमानदारी नहीं है। मनुष्य काम करे तो ईमानदारी से करे, न करे तो न करे। इस प्रकार सोचते-सोचते वह आपे से बाहर हो गई। उसने बड़ी को पांव से एक ठोकर लगाई और दबाव देकर कहा—इतनी देर में इतना सा आटा पीसा है? क्या मुफ्त में पैसा लेना चाहती हो? अधूरा काम छोड़ कर भाग जाने की इच्छा है क्या?

ठोकर खाने वाली को कितनी पीड़ा पहुँची, कहा नहीं जा सकता। उसके नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी। उसका अन्तःकरण जल उठा, अपने दुर्भाग्य पर! एक दिन वह भी कुंवरानी कहलाती थी और आज यह दुर्दशा! पीसना बंद

कर उसने अपने हृदय के असीम उद्वेग को किसी प्रकार शांत किया। फिर अतीव नम्रता और दीनता भरे स्वर में कहा—बाईजी, आपका क्रोध उचित है, पर हमारे मन में बेईमानी नहीं है।

सुगुणी—तो क्या इतना ही पिसना चाहिए था ?

वड़ी—नहीं, मगर हाथ नहीं चलते। बहुत चाहने पर भी चक्की नहीं घूमती। हमने बहुत चाहा कि जल्दी काम पूरा करें तो पेट में कुछ पड़े, परन्तु क्या करें ? बाई, हम तीन दिन की भूखी हैं। धीरे-धीरे आपका काम कर देंगी। हमें अभागिनी समझ कर क्षमा कर दो।

सुगुणी को दया आ गई। तीन दिन की भूख का शरीर पर क्या असर होता है, यह बात उसे मालूम थी। उसे अपने पुराने वह दिन याद आ गए। इस कारण और स्वभाव से दयालु होने के कारण उसका हृदय पिघल गया। उसके कोमल अन्तःकरण में कोमल भावना जागृत हो उठी।

सुगुणी ने उनसे कहा—तो तुमने पहले क्यों नहीं कह दिया ? इस घर में क्या कमी है ? कह दिया होता तो पहले तुम्हें भोजन मिल जाता और फिर शान्ति से काम करतीं। खैर, चक्की छोड़ दो। पहले तृप्त होकर भोजन कर लो।

यह कह कर सुगुणी ने उसी समय दासी को आदेश दिया कि भोजन ले आओ और इन्हें प्रेम से जिमा दो।

दासी भोजन लाई। तीनों भोजन करने बैठीं। सुगुणी उनके सामने पड़े हुए एक हिंडोले पर बैठ गई। पर इस समय उसका चित्त शान्त नहीं था। नवागत स्त्रियों की दशा पर विचार करके वह गम्भीर हो गई थी। तीन दिन की भूखी-प्यासी अपने घर पर आई हुई स्त्रियों को चक्की पिसवाने के लिए विठा देना और ऊपर से ठोकर मारना ऐसी घटना थी जो सुगुणी के दिल को वेचैन बना रही थी। वह अपनी निर्दयता के लिए पछता रही थी। वह सोचती थी–खैर, इनकी भूख की बात मुझे नहीं मालूम थी; फिर भी ठोकर मारना तो उचित नहीं था। थोड़ा पीसने के बदले थोड़े दाम दिये जा सकते थे, पर ठोकर नहीं मारी जा सकती थी। आज मैंने अत्यन्त ही अनुचित कार्य कर डाला है! धिक्कार है मेरी धर्मज्ञता को! मैं प्रतिदिन सामायिक और प्रतिक्रमण करती हूँ। सामायिक करके समभाव के संस्कार जीवन में उतारना चाहती हूँ, पर आज की घटना से विदित हो गया कि मेरी आत्मा अभी तक अत्यन्त दुर्बल है। मैं द्रव्यसामायिक ही करती हूँ, भावसामायिक करने योग्य नहीं हो सकी। सामायिक तो जीवन-व्यापी समभाव प्राप्त करने का साधन है। दो घड़ी तक उस समभाव का अभ्यास किया जाता है, पर उसका प्रभाव तो जीवन के प्रत्येक व्यवहार में होना चाहिए। जिसके अन्तःकरण में इस प्रकार स्थायी समभाव न आया, समझना चाहिए कि वह सामायिक के वास्तविक फल से अभी तक वंचित ही है। सिर्फ दो घड़ी समभाव रखना और शेष समय में विषम भाव में वर्तना वास्तविक धर्मनिष्ठता नहीं है।

प्रतिक्रमण करके प्रतिदिन मैं अपनी भूलों के लिए, अपने अपकृत्य के लिए और अनुचित आचरण के लिए पश्चात्ताप करती हूँ। फिर कषायों पर अब तक विजय प्राप्त न कर सकी। अब भी भद्दी से भद्दी भूल कर बैठती हूँ। आज की भूल बड़ी ही चुभने वाली भूल है!

खेद है कि मैं साधारण कारण से भी क्रोध के वशीभूत हो गई। क्रोध ने मेरे विवेक को नष्ट कर दिया। सचमुच, क्रोध आत्मा का प्रबल शत्रु है। इसके वशीभूत होकर प्राणी पिशाच बन जाता है, पागल हो जाता है। यथार्थ ही कहा है:—

क्रोधो मूलमनर्थानां, क्रोध. संसारवर्द्धन।
धर्मक्षयकरः क्रोध-स्तस्मात्क्रोधं विवर्जयेत्॥

अर्थात्—क्रोध अनर्थों की जड़ है, क्रोध संसार-जन्म-मरण-की वृद्धि करने वाला है, क्रोध धर्म का विनाश करता है। अतएव क्रोध का परित्याग कर देना ही योग्य है।

क्रोध वह अग्नि है, जो सब से पहले क्रोध करने वाले को ही जलाती है। दूसरा जले या न जले, पर क्रोध करने वाला अवश्य जलता है। क्रोध की आग में धर्म-कर्म सब कुछ भस्म हो जाता है। क्रोध से मनुष्य की सहज बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। इसी से शास्त्रकार कहते हैं कि क्रोध से अधोगति होती है। क्रोध करने वाले की विकराल मुद्रा ही यह सूचित करती है कि वह आपे से बाहर हो गया है। उसकी शान्ति नष्ट हो

गई है। वह राक्षस बन गया है। क्रोधी का वर्णन ठीक ही किया गया है:—

भ्रूभंगभंगुरमुखो विकरालरूपो,
रक्तेक्षणो दशनपीडितदन्तवासाः।
त्रासं गतोऽति मनुजो जननिन्द्यवेषः
क्रोधेन कम्पिततनुर्भुवि राक्षसो वा ॥

मनुष्य जब क्रोध के अधीन होता है तो उसकी भौंहें चढ़ जाती हैं, चेहरा विकृत हो जाता है, रूप विकराल हो जाता है, आँखें लाल-लाल हो जाती हैं, होठों को दांतों से चबाने लगता है, बेचैन हो जाता है, उसका रंगढंग देखकर लोग निन्दा करने लगते हैं, उसका सारा शरीर काँपने लगता है। वह ऐसा दिखाई पड़ता है, मानों मनुष्य की आकृति बनाकर इस धरती पर राक्षस ही आ धमका हो !

यह सब जान-बूझ कर भी मैं आज क्रोध के आवेश में आ गई। हाय, यह मेरी कितनी दुर्बलता है ! मुझे इसका प्रायश्चित्त करना होगा !

सुगुणी आगे सोचने लगी—मुझे अपने जीवन में कभी ऐसा आवेश नहीं आया था। आज क्या कारण हुआ कि तुच्छ-सी बात पर मैं क्रुद्ध हो गई ! जब सर्वस्व त्याग कर, अंधेरी रात्रि में घर से निकली थी और तीन दिन तक भूखी रही थी, तब भी मेरा अन्तःकरण क्रोध से अभिभूत नहीं हुआ

था। उस समय भी मेरे मन में अखण्ड शान्ति विद्यमान थी। आज मेरी क्या बड़ी हानि हो गई थी? फिर क्या कारण था कि मैं आज क्रोधान्ध हो गई?

सच्चा धर्मात्मा व्यक्ति अपने अन्तःकरण में उठने वाली प्रत्येक ऊर्मि को ध्यान से देखता रहता है और उसका विश्लेषण करता है। वह अपनी प्रत्येक भावना और क्रिया के संबंध में गंभीर विचार करता है। सोचता है—इस भावना का कारण क्या है? और इसका परिणाम-फल-क्या होगा? इसके द्वारा मैं ने किस नवीन कर्म का बन्ध किया है? अगर बंध किया है तो शुभ कर्म का अथवा अशुभ कर्म का? अगर बंध नहीं किया तो क्या संवर किया है या निर्जरा की है? इस प्रकार अपनी अन्तरात्मा की सदैव चौकसी रखने वाला ही सच्चा साधक होता है। वही अपनी आत्मा को विशुद्ध बना सकता है।

सुगुणी में गंभीर विवेक था। अतएव वह अपने कृत्य पर विचार करने लगी। विचार करते-करते उसे अपने स्वप्न की बात स्मरण हो आई। उसे ध्यान आया कि पैत्रिक घर में एक बार मुझे जो स्वप्न आया था और जिसका कथन करने पर जेठानियों ने तूफान मचा दिया था, वह स्वप्न आज सच्चा तो नहीं हो रहा है? मेरी तीन जेठानियाँ थीं और यह भी तीन हैं।

यह विचार आते ही सुगुणी के हृदय को प्रबल आघात लगा। उसने नवागन्तुका तीनों महिलाओं की ओर आँखें गड़ा कर देखा। इधर वह उन्हें देखती जा रही थी और उधर यह

भी सोचती जाती थी कि मेरी जेठानियाँ इस दीन दशा में क्यों होंगी ? उनके यहाँ किस चीज़ की कमी थी ? सब बैठे बैठे खाएँगे तो भी ज़िंदगी भर के लिए काफ़ी है !

खुगुणी नहीं चाहती थी कि इस गिरी अवस्था में वह अपनी जेठानियों को देखे। पिछली घटना की लेश-मात्र भी कटुकता उसके हृदय में नहीं थी। वह तत्त्व को जानती थी। उसने सोच लिया था कि—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

जीव ने पहले जिन कर्मों का बन्ध किया है, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल वह भोगता है। अगर दूसरे के द्वारा दिये हुए फल को भोगे तो उसके अपने किये कर्म निरर्थक हो जाएँ।

वास्तविक बात यही है। बहिरात्मा जीव मानता है कि—अमुक आदमी ने मुझे यह कष्ट पहुँचाया है; अमुक ने मेरी यह हानि की है; अमुक ने मेरा अपमान किया है, अमुक ने मेरा धन हरण कर लिया है, अमुक ने मेरा यह काम बिगाड़ दिया है परन्तु यह विचार मूल से ही भ्रान्तिपूर्ण है। ऐसा कभी हो नहीं सकता। कोई किसी के कर्म को बदल नहीं सकता। सब जीव अपने-अपने कर्मों का ही फल भोगते हैं। अन्तरंग और प्रधान कारण कर्म ही हैं। व्यक्ति निमित्त मात्र है। ऐसी

स्थिति में अपने कर्म के किसी भी फल के लिए दूसरे को उत्तरदायी ठहराना अनुचित है।

दूसरे को उत्तरदायी ठहराने से लाभ तो कुछ होता नहीं, हानि अवश्य ही होती है। जिसे हानिकर्त्ता, कष्टदाता, धन-अपहर्त्ता या अपमानकर्त्ता माना जाता है, उसके प्रति वैर और द्वेष का भाव उदित होता है और उससे नये सिरे से पाप-बंध होता है।

इस तथ्य को भलीभांति समझने के कारण पहले जो भी घटना घटी थी, उसके लिए उसने किसी दूसरे को उत्तरदायी नहीं ठहराया था, वल्कि अपने ही कर्मों को कारण माना था। इसका परिणाम यह हुआ था कि उसे अपने जेठ या जेठानियों के लिए जरा भी द्वेष नहीं था। इस कारण जब उसे यह शंका हुई कि कहीं यह मेरी जेठानियाँ ही तो नहीं है, तो उसका दिल बैठ गया। पर आँखें उसकी उन्हीं पर गड़ी रहीं। सुगुणी की आँखों ने उससे कहा—अरे, सूरत तो जेठानियों जैसी ही है! बात क्या है? मैं किस भ्रम मे पड़ी हूं!

सुगुणी ने देखा—तीनो महिलाएँ धीरे-धीरे काना फूसी कर रही हैं। वे मेरी ओर देखती जा रही हैं और बातें कर रही हैं! देखना चाहिए, सत्य बात क्या है?

सुगुणी हिंडोले से उतर कर उनके पास पहुँची। तीनों महिलाओं ने बातें बन्द कर दीं। वे सहम गई। फिर भी चुपके-चुपके उनकी निगाहें सुगुणी को परखने का प्रयास करने लगीं।

सुगुणी ने समीप जाकर कहा—मुझे देख-देख कर क्या बातें करती थी ? जो मन में हो, सच-सच कह दो।

तीनों लज्जित होकर मौन रह गई। किसी के मुख से कोई शब्द न निकला। उन्हें मन की बात कहने का साहस न हुआ।

सुगुणी ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—भय न करो। जो कहना हो, कहो।

इस प्रकार आश्वासन पाकर बड़ी जेठानी ने अत्यन्त नम्रता के साथ आँखों में आँसू भर कर कहा—बाईजी, हमें अपने पिछले दिनों की एक स्मृति आ गई थी। उसी के विषय में बातें कर रही थीं।

सुगुणी—परन्तु वही तो पूछती हूँ। क्या स्मृति आ गई थी ?

महिला—बुरा न मानें तो कहूँ।

सुगुणी—मैं स्वयं कहलवा रही हूँ। बुरा क्यों मानूँगी ?

महिला—बिलकुल आप जैसी मेरी एक देवरानी थी। बड़ी भाग्यवती थी।

सुगुणी—अब वह कहाँ है ?

महिला—बस, यही न पूछिए।

सुगुणी—क्यों ? निस्संकोच होकर कह डालो।

महिला—वह हम पापिनियों के दुःख से घर छोड़ कर

चल दी। हमारे देवर भी साथ चले गये। वे तो घर में से एक कौड़ी भी नहीं ले गये थे, पर हम अभागिनियाँ थीं। उनके चले जाने के बाद सारा धन चला गया। मकान भी चला गया। पेट भरने के लाले पड़ गए और आज जो दशा है, उसे आप देख ही रही हैं। उनके वियोग में सासू-ससुर भी परलोक सिधार गये।

यह वृत्तान्त सुन कर सुगुणी के नेत्रों से आसुओं की धारा बहने लगी। मुँह से शब्द न निकला।

सुगुणी की यह दशा देख कर तीनों को निश्चय हो गया कि यही सेठानी हमारी देवरानी है।

सुगुणी उसी समय अपनी जेठानियों के पैरों में गिर पड़ी। जेठानियों ने उसे छाती से लगा लिया और अपने आँसुओं से नहला दिया।

तत्पश्चात् किंचित् स्वस्थ होकर उन्होंने कहा—बाई, हम हतभागिनियों को क्षमा कर देना। हमने तुम्हें बहुत दुःख दिया है। तुम दोनों भाग्यवान् हो। तुम्हारे लिए कहीं भी कमी नहीं है। पग-पग पर निधान हैं। तुम्हें जो स्वप्न आया था, आज वह साक्षात् सत्य के रूप में सामने आ गया।

सुगुणी—अनजान में मुझसे जो अविनय हो गया है, उसके लिए मैं लज्जित हूँ। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। भवि-तव्य प्रबल है। वह टाले नहीं टलता। मैं स्वप्न की बात भूल ही गई थी। वह बाद में याद आई। मेरी लज्जा का पार नहीं है।

यह जो सम्पत्ति प्राप्त हुई है, सब आपका ही प्रसाद है। भला-बुरा जो होता है, सब अपने ही कर्मोदय से होता है। उसके लिए किसी को दोष देना वृथा है। मेरे दिल में कोई रंज नहीं है। आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहें। हाँ, सासूजी और श्वसुरजी के वियोग का संवाद सुन कर अवश्य ही मेरा हृदय फटा जा रहा है। किन्तु जो होना था सो हो गया। अब चिंता करने से, रोने से, छाती और माथा पीटने से भी वे आ नहीं सकते। उनकी वरद छत्र-छाया हमारा सौभाग्य थी।

× × × ×

अहा ! इस प्रसग पर हमें सुगुणी की वास्तविक महत्ता देखने को मिलती है। उसका हृदय कितना उदार है। उसका मन कितना महान् है ! धर्म का आचरण मनुष्य को कितनी उच्चता पर प्रतिष्ठित कर देता है। उसने मुनियों का उपदेश सुना था, शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। इसी कारण उसकी आत्मा इतनी ऊँची उठ गई थी। सुगुणी के बदले कोई साधारण स्त्री होती तो इस अवसर पर अपनी जेठानियों के साथ कैसा व्यवहार करती ? उनका क्या कह कर स्वागत करती ? वह सैंकड़ों जली-भुनी बातें सुनाती, हृदय को चीर डालने वाले ताने कसती और अपमान करती। मगर नहीं, सुगुणी ने ऐसा नहीं किया। शिक्षिता और अशिक्षिता, ज्ञानवती और अज्ञानवती नारियों में क्या अन्तर होता है, यह इस घटना से स्पष्ट समझा जा सकता है।

२३
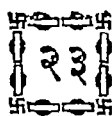
बन्धु-मिलन

जिस समय सुगुणी की अपनी जेठानियों के साथ मुलाकात हुई, उस समय सुगुणी की एक दासी भी कुछ दूरी पर अपना काम कर रही थी। वह उनकी आपस की बातें तो न सुन सकी, पर हाव-भाव एवं चेष्टाएँ सब देख रही थी। वहाँ जो कुछ हो रहा था, उससे दासी को बड़ा आश्चर्य हो रहा था। आखिर दासी तो दासी ही ठहरी, उसमें विशेष बुद्धि कहाँ से आती? बुद्धि होती तो दासी ही क्यों रहती? अतएव वह नवीन आई हुई तीन दरिद्रा स्त्रियों के साथ अपनी मालकिन को इस प्रकार घुट-घुट कर बातें करते देखकर चकित रह गई। जब चारों पास में बैठ कर रोने लगीं, तब तो उस दासी का धैर्य टूट गया। उसने सोचा—यह औरतें अवश्य ही कोई जादू-टोना जानती हैं। इन्होंने हमारी मालकिन पर जादू कर दिया है। उनके चित्त को भरमा दिया है! इसके आगे न जाने क्या अनर्थ होगा, इस विचार से उसे बड़ा क्षोभ हुआ।

दासी सच्ची स्वामिनी भक्त थी। वह अपनी स्वामिनी

को माता के समान समझती थी। स्वप्न में भी उसका अनिष्ट नहीं सोच सकती थी और न अनिष्ट होता देख सकती थी। इसका प्रधान कारण था सुगुणी का सद्व्यवहार। सुगुणी अपने दास-दासियों को अपने परिवार के जनों में ही गिनती थी। उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझती थी। उनकी चिन्ता को अपनी चिन्ता समझती थी। सदैव उनके प्रति ममता और सहानुभूति प्रदर्शित करती रहती थी। उनके ऊपर अथवा उनके घर वालों पर कभी कोई सकट आ पड़े तो उसे दूर करने में तनिक भी उपेक्षा नहीं करती थी। वह अपने सभी नौकरों और नौकरानियों को अपना सहायक मानती थी। उसने शास्त्र पढ़े थे और शास्त्र में नौकरों के लिए 'कोडुंबिय' अर्थात् कौटुम्बिक (परिवार के आदमी) शब्द आता है। इसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ अपने कर्मचारियों को अपने परिवार का ही सदस्य समझे और वैसा ही व्यवहार करे जैसा वह अपने परिवार वालो के साथ करता है।

शास्त्र में नौकरों को भी सबोधन करने के लिए 'देवानुप्रिय' शब्द आता है। देवानुप्रिय का अर्थ है—देवो का प्यारा। कितना मधुर शब्द है। 'हे देवों के प्यारे' इस प्रकार का संबोधन सुनकर किसका हृदय आह्लादित न हो जाता होगा ? यह संबोधन वास्तव में अत्यन्त मीठा है। अपने नौकरों को कौटुम्बिक पुरुष' समझना और 'देवानुप्रिय' कह कर संबोधन करना उस समय की समुन्नत और स्नेहमय समाज व्यवस्था का सूचक है।

सुगुणी इसी के अनुसार अपने नौकरों के साथ व्यवहार करती थी। अतएव उसके सब दास और दासियाँ भी उसे बहुत प्रेम करते थे, उसके प्रति भक्ति-भाव रखते थे और निरन्तर उसके हित की कामना करते थे। उसकी हानि को अपनी हानि और उसके लाभ को अपना लाभ समझते थे।

अपने किसी नौकर से सुगुणी अत्यधिक काम नहीं लेती थी। वह सदैव उनके सामर्थ्य का विचार करती और कोई नौकर कभी उचित से अधिक काम करता तो उसे रोक देती थी। नौकरो पर इस नीति का बहुत ही अनुकूल प्रभाव पड़ा था। वे लोग उनके परोक्ष में भी कभी अपने कार्य में प्रमाद नहीं करते थे और न बिना मन के जैसा-जैसा करके काम पूरा करते थे। तात्पर्य यह है कि स्वामी और सेवक में, नौकर और मालिक में, आपस में किस प्रकार का संबध और व्यवहार होना चाहिए; यह बात जिनदास-सुगुणी और उनके नौकरों के व्यवहार को देख कर समझी जा सकती थी। अपने आश्रित जनों के प्रति स्नेह, दया, सहानुभूति और उदारता का व्यवहार करना भी गृहस्थ धर्म का एक अंग है। इस परिवार में धर्म के इस अंग का भी ध्यान पूर्वक पालन किया जाता था।

हाँ, तो इसका परिणाम यह हुआ कि अपनी मालकिन को नवागत स्त्रियों के साथ बैठ कर रोती देख दासी को चिन्ता हुई। उसने सोचा—यह कोई करामाती औरतें हैं। इन्होंने मालकिन पर कोई जादू कर दिया है। यह सोच कर वह जिन-दास के पास दौड़ी-दौड़ी गई।

घबराई हुई दासी को आती देख जिनदास ने पूछा—क्यों, क्या बात है ? घबराई क्यों हो ?

दासी—आप जरा जल्दी मेरे साथ चलिए।

जिनदास—बात क्या है ? बता तो दे।

दासी—अपने यहाँ तीन औरतें आई हैं।

जिनदास—फिर ?

दासी—फिर भगवान् जाने क्या हुआ ? मालकिन उनसे बातें करती रहीं; फिर चारों मिल कर रोने लगीं। कौन जाने क्या जादू कर दिया है उन्होंने।

जिनदास—पगली कहीं की !

जादू-टोना क्या चीज़ है, यह बात आज तक पूरी तरह किसी की समझ में नहीं आई। फिर भी समाज में, खास तौर से स्त्रियों में, इसकी बड़ी धाक है। कोई भी बात अकस्मात् हुई नहीं कि जादू का प्रभाव समझ लिया जाता है। किसी का बेटा बीमार हो गया तो उसने समझ लिया—किसी ने जादू कर दिया है ! किसी का घर गिर गया तो उसे विश्वास हो गया कि अवश्य ही यह किसी के जादू का परिणाम है ! लोग ठीक तरह कार्य-कारण भाव का विचार नहीं करते और इस तरह की ऊलजलूल बातें गढ़ लेते हैं। यह सब अन्ध श्रद्धा का परिणाम है। इस अन्ध श्रद्धा का मनुष्य के जीवन पर विपरीत परिणाम होता है। इससे आत्मा निर्बल होती है और प्रत्यक्ष में

भी अनेक हानियाँ होती हैं। जब किसी रोग को जादू-टोने का परिणाम समझ लिया जाता है तो रोग का समुचित इलाज करने की ओर ध्यान नहीं दिया जाता और ऐसे इलाज़ किये जाते हैं कि जिनका रोग के साथ कोई सबध नहीं होता। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही है कि यथेष्ट परिणाम न निकले और अन्त में रोने और शोक करने के सिवाय कुछ भी हाथ न लगे।

मंत्र-जंत्र और जादू-टोने की धारणाओं ने नारी जाति को बड़े वहम में डाल रक्खा है। इससे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। परन्तु लोग इन अनर्थों की ओर ध्यान नहीं देते। धर्मवेत्ता पुरुष और स्त्री को कर्मसिद्धान्त पर अटल विश्वास होता है। वह जानता है कि मनुष्य अपने कर्म के अनुसार ही सुख-दुःख पाता है। अतएव सुखी बनने का एक मात्र उपाय कर्मों का नाश करना ही है। ऐसा समझने वाला विवेकशील मनुष्य सङ्कट के समय भी धर्म का ही आचरण करता है।

जिनदास धर्म के वेत्ता थे। उन्हें जादू-टोने की बात सुनकर हँसी आई, परन्तु सुगुणी के रोने की बात सुन कर चिन्ता भी हुई। मन में अनेक प्रकार की आशंकाएं और संभावनाएँ घूम गईं। वह उसी समय उठ कर वहाँ आए जहाँ सुगुणी और उसकी जेठानियाँ थीं।

अपनी भौजाइयों को पहचानने में जिनदास को देरी नहीं लगी। नज़र पड़ते ही उसने समझ लिया कि यह कोई जादूगरनी नहीं, सुगुणी की जेठानियाँ हैं। सुगुणी के रोने का कारण भी वह समझ गए परन्तु अपनी भाभियों को उस दुर्दशा
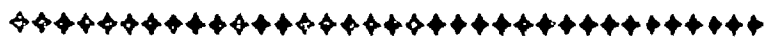
में देख कर उन्हें अतीव विस्मय और विषाद हुआ। हृदय को ऐसा धक्का लगा कि उसे कठिनाई से सँभाल सके। विना कहे ही वह सब कुछ समझ गये। उन्होंने सर्वप्रथम यही प्रश्न किया—'भाई कहाँ हैं ?'

अहा ! जगत् में भाई का सबंध कितना मधुर, भावमय और अनूठा है ! भाई-भाई का प्रेम संसार की महान् से महान् वस्तु है। क्यों न हो, जिनके शरीर का एक हो धातु से निर्माण हुआ, जिनकी नसों मे एक ही खून चक्कर काट रहा है। उनमें परस्पर प्रेम न होगा तो किनमें होगा ? खेद है कि मनुष्य जब तुच्छ स्वार्थ के वशीभूत हो जाता है, धन-सम्पत्ति को सब से बड़ी चीज़ समझने लगता है और उसकी भावना जब संकीर्ण हो जाती है, तो वह अपने सहोदर को भी वैरी समझने लगता है। पर संसार में इससे अधिक मूर्खता और अधमता दूसरी नहीं हो सकती। विवेकवान् गृहस्थ अपने भाई को ही संसार की सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति समझता है। वह भाई के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं कि भाई ने भाई की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। जहाँ एक भाई दूसरे भाई को इस प्रकार चाहता है, वह गृहस्थी सब प्रकार के सुखों का आगार बन जाती है।

दूर क्यों जाते हो ? जिनदास के ही परिवार का विचार करो। जब तक भाई-भाई में प्रेम था, सब सुख में थे। उन्हें किसी बात की कमी नहीं थी। ज्यों ही उनमें विद्वेष की भावना

का उदय हुआ कि उनके सुख में कमी हो गई। जब विद्वेष चरम सीमा पर पहुँचा तो सारा घर ही छिन्न-भिन्न हो गया! बन्धु-विरोध का परिणाम ऐसा ही भयंकर होता है!

जैसे सुगुणी के हृदय में अपनी जेठानियों के प्रति द्वेष का भाव नहीं था, उसी प्रकार जिनदास के मन में भी अपने भाइयों के लिए लेश मात्र भी द्वेष नहीं था। यही नहीं, वह पहले की भांति ही उन्हें प्रेम करता था। उनके दुर्व्यवहार को उसने सामान्य मानवीय दुर्बलता समझ कर उपेक्षा की दृष्टि से देखा था।

अपनी भौजाइयों को देखते ही उसे अपने भाइयों का स्मरण हो आया। उसने गम्भीर चिन्ता के साथ प्रश्न किया—भाई कहाँ है?

लज्जा के भार से भौजाइयों का मस्तक नीचे झुक गया। उत्तर देने में भी उन्हें सकोच हुआ। मगर साहस बटोर कर उन्होंने कहा—उदरपूर्त्ति की सामग्री जुटाने के लिए वे कहीं बाजार में भटक रहे होंगे। तीनों जन हमें नीचे बिठला कर नगर में गये थे।

जिनदास ने कहा—अच्छी बात है, अभी आ जाएँगे; पर देखो, अभी कोई गड़बड़ मत करना। किसी पर यह मर्म प्रकट नहीं होना चाहिए, अन्यथा उनकी प्रतिष्ठा को क्षति पहुचेगी। लोक-लज्जा को सभालना होगा। मैं कोई ऐसा उपाय सोचता हूँ, जिससे सब की प्रतिष्ठा बनी रहे।

उधर तीनों भाई बाजार में घूमने लगे। अशुभ कर्म के योग से कहीं कोई भी काम न मिला। तब वह गलियों में घुसे और वहाँ भी काम-काज की खोज की। पर कोई सफलता न मिली। इतने बड़े नगर में पेट भरने योग्य मजूरी मिलना कोई कठिन बात नहीं थी; परन्तु दैव की लीला ही समझिए कि यह तीनों भाई कुछ भी काम न प्राप्त कर सके।

वह स्वयं तीन दिन के भूखे थे; परन्तु उन्हें अपनी भूख की अपेक्षा अपनी स्त्रियों की भूख की ही अधिक चिन्ता थी। वह सोचने लगे—स्त्रियाँ बड़ी उत्कंठा के साथ हमारे लौटने की प्रतीक्षा कर रही होंगी। भूख की मारी छटपटा रही होंगी। सोचती होंगी—यह लोग भोजन की सामग्री लेकर आते ही होंगे। पर यहाँ पर हाल है कि मुट्ठी भर चनों की व्यवस्था भी नहीं हो सकी। हम लोग खाली हाथ लौटेंगे तो कैसे मुख दिखलाएँगे ? क्या कह कर उन्हें तसल्ली देंगे ? हमारी दी हुई सफाई से उनका पेट कैसे भर जायगा ? वे क्या सोचेंगी ? कैसे जिंदी रहेंगी ? पर कोई उपाय भी तो नहीं दीखता। अत्यन्त प्रबल पापकर्मों का उदय आया है। न मालूम कौन-सा कुकृत्य करके यह पाप-कर्म बाँधा था ?

इस प्रकार नाना संकल्पों-विकल्पों की लहरों में बहते हुए और अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हुए तीनों भाई उसी जगह आए, जहाँ स्त्रियों को छोड़ गये थे। परन्तु उन्हें यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि वहाँ तीन में से एक भी नहीं मौजूद है।

तीनों की घबराहट का पार नहीं रहा। उन्होंने विचार किया—अब पूरी दुर्दशा हुई! अब पूरी तरह लुट गये। जो कुछ शेष था, वह भी समाप्त हो गया जान पड़ता है। परिवार छिन्न-भिन्न हो चुका था, पैत्रिक घर चला गया था, सम्पत्ति सारी नष्ट हो गई थी; अब औरतों से भी हाथ धोना पड़ेगा?

उन्होंने आकर इधर-उधर देखने का प्रयत्न किया। न दिखाई दीं तो आसपास के लोगों से पूछना आरम्भ किया-अजी, कुछ देर पहले यहाँ तीन स्त्रियाँ बैठी थीं। आपको पता है, वह किधर चली गई हैं?

किसी ने कहा—नहीं भाई, हमें नहीं मालूम।

जो जरा उजड्ड थे, वे बोले—हम क्या उनके पहरेदार थे? यहाँ कौन किसकी औरत को देखता-भालता रहता है?

इस प्रकार के उत्तर सुनकर तीनों हतबुद्धि हो गये और इधर-उधर खोज करने लगे। इतने में ही जिनदास ने उन्हें देख लिया और आवाज़ देकर बुलाया। वह उन्हें पीछे के बाड़े में ले गया। उसने कहा—मेरे साथ आओ, मैं बतलाता हूँ कि तुम्हारी स्त्रियाँ कहाँ हैं? मगर पहले तुम अपना परिचय दो। तुम कौन हो और कहाँ से आये हो?

यह प्रश्न सुनकर तीनों बहुत लज्जित हुए। प्रथम तो उनकी समझ में यही नहीं आता था कि यह सेठ हमें अन्दर क्यों ले जा रहा है? फिर स्त्रियाँ इस मकान में क्यों और कैसे आ गईं?

उनके मन में संदेह पर संदेह उत्पन्न हो रहे थे। यह सोचकर कि न जाने आगे क्या होने वाला है और क्या देखने-सुनने को मिलेगा, वे अत्यन्त ही व्याकुल हो रहे थे। जी चाहता था कि इस प्रकार जीवित रहने की अपेक्षा प्राणों का परित्याग कर देना ही उचित है। मौत का आलिंगन कर लेंगे तो सब प्रकार की परेशानियों से छुटकारा मिल जायगा।

इस दारुण दशा में वह नहीं चाहते थे कि कोई हमारा नाम-ग्राम पूछे। वे अपने बाप-दादाओं को अपकीर्त्ति से बचाना चाहते थे। अतएव उन्होंने अपने ग्राम आदि का कहीं परिचय नहीं दिया था। ऐसी स्थिति में जिनदास का प्रश्न सुन कर वे लज्जा से झुक गए। उन्होंने प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया; सिर्फ जिनदास के चेहरे की ओर देखा। यह चेहरे को देखकर जिनदास के मनोगत भाव को ताड़ने की चेष्टा करना चाहते थे और यह जानना चाहते थे कि सेठ ने किस अभिप्राय से यह प्रश्न किया है ?

मगर सेठ के चेहरे को जरा गौर से देखा तो उन्हें उस पर जिनदास की छाया दिखलाई दी। छाया ही नहीं दिखलाई दी, उन्हें ज्ञात हुआ कि कहीं यह जिनदास ही तो नहीं है! फिर सोचा—मगर यह तो यहीं का निवासी सेठ है। इसकी इतनी बड़ी हवेली खड़ी है। इसके वैभव का ठिकाना नहीं दीखता। जिनदास इतनी जल्दी इतना बड़ा सेठ कैसे बन सकता है ? लक्ष्मी आती है तो भी आती-आती ही आती है। अचानक आकाश से नहीं बरस पड़ती। मगर ... हमारी आँखें भी क्या बदल गई हैं ? हालत बदल गई, आँखें तो वही हैं।

इस प्रकार सोच-विचार में पड़े हुए तीनों भाई कुछ निश्चय नहीं कर सकते थे। यद्यपि किसी समय यह सब वर्षों साथ में रहे हैं और सगे भाई हैं, तथापि आज इनकी स्थिति में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। राजा और रंक में जो भेद होता है, वही जिनदास और उसके भाइयों में हो गया है। दुःख, विपत्ति, दरिद्रता और मानसिक व्यथाओं ने उनके चित्त में अतिशय हीनता और दीनता का भाव उत्पन्न कर दिया था। वे स्वयं अपनी ही निगाहों में गिर गए थे। इस कारण सेठ के सामने वे अपने आपको तुच्छतर ही समझ रहे थे।

यही कारण था कि वे अपने सन्देह को व्यक्त करने में भी झिझक रहे थे। चतुर जिनदास उनकी यह उलझन समझ रहा था। फिर भी उसने जल्दी ही मर्म को प्रकट नहीं किया।

तीनों ने कहा—कृपा कर हमारी स्त्रियों का पता बता दीजिए।

जिनदास—आपकी स्त्रियाँ मेरे घर में हैं।

हँसते हुए जिनदास ने जब यह उत्तर दिया तो तीनों भाइयों की छाती पर साँप लोट गया। वे गहरी दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे।

आवड़—हम दुखिया हैं। दुखिया लोगों से हँसी करना अच्छा नहीं।

जिनदास—रहे होओगे दुखिया, अब तुम्हारे दुःखों का अन्त आ गया है।

आवड़—हमारे दुःखों का अन्त प्राणों के अन्त के साथ ही होता दिखाई देता है। सचमुच वह अन्त अब दूर नहीं है।

अत्यन्त कातरतापूर्ण शब्द सुन कर और अपने सहोदर भाइयों की असीम व्यथा का विचार करके जिनदास के मृदुल हृदय में भाला-सा चुभ गया। उससे अब न रहा गया। उसने कहा—सोहन शाह जैसे धीर, वीर, गंभीर सेठ के पुत्र होकर इतनी अधीरता दिखलाते हो ?

अपने पिता का नाम सुनते ही तीनों भाइयों का संदेह निश्चय में बदल गया। उन्हें विश्वास हो गया कि यह जिनदास के सिवाय दूसरा नहीं है। उनकी प्रसन्नता का पार न रहा।

इसी बीच जिनदास ने कहा—अपने छोटे भाई को भी भूल गये ? इतनी जल्दी ? मैं आपका वही सेवक जिनदास हूँ ! भौजाइयाँ ऊपर हैं। मगर यह तो बतलाइए कि माताजी और पिताजी कहाँ हैं ?

तीनों भाइयों के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। वे हिचकियाँ ले-लेकर रोने लगे। थोड़ी देर तक किसी के मुख से कोई शब्द न निकला।

थोड़ी देर में कुछ आश्वस्त होकर आवड़ ने कहा—कुछ न पूछो भाई, हम लोग अत्यन्त अधम और पापी हैं। हमारे दोषों का पार नहीं है। हमने निष्कारण ही तुम्हें व्यथा पहुँचाई। यहाँ तक कि तुम्हें गृहत्याग के लिए विवश कर दिया। किसे

मालूम था कि हम सब तुम्हारे पुण्य से ही पल रहे हैं ? मगर सचाई यही थी। तुमने घर छोड़ा कि लक्ष्मी ने भी घर का त्याग कर दिया। पुण्य भी विमुख होकर चला गया जिस रात तुमने बाहर पाँव रक्खा, उसी रात से हमारी दुर्दशा आरम्भ हो गई। तुम्हारे परदेश-प्रयाण का समाचार सुनते ही माता-पिता ने परलोक की ओर प्रयाण कर दिया। एकत्र किया हुआ धन चोर ले गये। सदा तो गहना बिखरा रहता था, मगर उस समय बँटवारे के लिए सारा का सारा एकत्र रक्खा गया था; मानों चोरों के लिए ही ढेर कर दिया गया हो। एक ही रात्रि में हम फकीर हो गए। हवेली की भी रक्षा न कर सके। वह भी चली गई! उसके बाद जो कुछ हुआ, उसे न कहना ही ठीक है। सुन कर तुम्हारा कलेजा भी फटने लगेगा।

जिनदास को माता-पिता का वियोग जान कर असीम वेदना हुई। यद्यपि वह तत्त्व का ज्ञाता था और जानता था कि संसार का कोई भी सम्बन्ध स्थिर नहीं रह सकता, फिर भी शोक के आवेश में इस तत्त्व ज्ञान को भी भूल गया। उसके नेत्रों से नीर बहने लगा। जिस परिस्थिति में उसे माता-पिता का विछोह हुआ, वह बड़ी दर्दनाक थी। उसी का विचार करके जिनदास का धैर्य टूट गया। उसके पश्चात्ताप की सीमा न रही। वह अपने गृहत्याग को भी धिक्कारने लगा। उसने सोचा—मैं समझता था कि मेरी उपस्थिति के कारण घर में पारिवारिक संघर्ष होता है और इससे माताजी और पिताजी को क्लेश पहुँचता है। मैं चल दूँगा तो शान्ति हो जाएगी। माता-पिता भी शान्ति पाएँगे। दुर्भाग्य से मेरा विचार उलटा

सिद्ध हुआ। जिनके सुख के लिए मैंने घर छोड़ा था, वे सब अधिक दुःख में पड़ गए !

शास्त्र के अनुसार पुत्र पर माता-पिता का असीम उपकार है। उस उपकार का शास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्दों में उल्लेख किया गया है। स्थानाँगसूत्र में वतलाया गया है कि कोई भी कुलीन पुरुष सवेरे ही सवेरे शतपाक और सहस्त्रपाक जैसे तैल से माता-पिता के शरीर की मालिश करे। मालिश करके सुगंधमय द्रव्यों से उवटन करे। इसके पश्चात् सुगँधित, उष्ण और शीतल जल से स्नान करावे। फिर सब प्रकार के अलकारों से उनके शरीर को भूषित करे। तदनन्तर मनोज्ञ और रुचिवर्धक अठारह प्रकार के व्यजनों सहित उन्हें भोजन करावे और फिर उन्हें कंधों पर उठाये फिरे। जीवन पर्यन्त इतनी सेवाशुश्रूषा करने पर भी वह पुरुष माता-पिता के उपकार से ऊरिन नहीं हो सकता। हाँ, अगर वह केवलि-प्ररूपित धर्म का बोध देकर उन्हें धर्म में स्थिर कर दे तो वह माता-पिता के महान् उपकार का वदला चुका सकता है।

जिनदास शास्त्र का ज्ञाता था। उसे यह बात भली भाँति विदित थी। अतएव उसे इस बात का अवश्य सन्तोष था कि मैं माता-पिता के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर सका; फिर भी उसकी अन्तरात्मा में यह व्यथा थी कि अन्तिम समय में मैं उनका मुख न देख सका, उनकी कोई सेवा न कर सका, उनके समाधिमरण में सहायक नहीं बन सका। वह सोचता था—मैं उपस्थित होता तो उन्हें पण्डितमरण की प्राप्ति होती।

मेरे अभाव में वे आर्तध्यान पूर्वक परलोक पधारे !

इसके अतिरिक्त आखिर जिनदास भी संसारी प्राणी था। मोह-ममता पर उसने पूरी तरह विजय नहीं पाई थी। फिर माता-पिता के प्रति उसके हृदय में प्रगाढ़ अनुराग था। कुलीन पुरुष माता-पिता के परम भक्त होते ही हैं। जिन्होंने पुत्र को यह शरीर दिया, सैकड़ों कष्ट सहन करके प्रेम से पाला-पोसा, बड़ा किया, शिक्षित और संस्कारी बनाया, जिनकी कृपा से वह सब प्रकार से योग्य बना, भला उनकी सेवा-भक्ति न करे तो किसकी करेगा ? माता-पिता की यथोचित सेवा भक्ति न करने वाला पुरुष घोर कृतघ्न है। वह मानव-समाज का कलंक है जो अपने दुर्व्यवहार से उनके चित्त को पीड़ा पहुंचाता है। जिनदास माता-पिता का परम कृतज्ञ था। अतएव उनके इस प्रकार मर जाने से उसे असीम वेदना हुई।

किसी प्रकार शान्ति धारण करके जिनदास ने अपने भाइयों का स्वागत किया। उनके स्नान-भोजन की व्यवस्था की और कहा—इस समय अधिक बातचीत करने का अवसर नहीं है। आप लोगों के इस प्रकार आने में न आपकी शोभा है और न मेरी ही। मैं आपको ठाठ के साथ यहाँ बुलाना चाहता हूँ। अतएव एक बार आपको दूसरी जगह जाना होगा।

आवड़—दूसरी जगह कहाँ जाएंगे ?

जिनदास—यहाँ से तीन कोस दूरी पर प्रागपुर नामक छोटा सा गाँव है। वहाँ एक 'मीठी मांजी' नामक वृद्धा रहती

है। आप उसी के वहाँ जाकर ठहरना और मेरा पत्र उसे दे देना। वह आपको सुखपूर्वक रक्खेगी। वहाँ से किसी आदमी के साथ अपने आगमन का पत्र यहाँ भेज देना। और उसमें आने की तिथि तथा समय निश्चित करके लिख देना। उसी समय हम आपके स्वागत के लिए सामने आएँगे और धूमधाम के साथ आपको यहां लाएंगे। ऐसा करने से आपकी और हमारी शोभा बढ़ेगी।

यह सब भलीभांति समझा कर जिनदास ने उन्हें बहुत सा धन दिया और मीठी मांजी के नाम का एक पत्र भी दे दिया। तत्पश्चात् एक गाड़ी की व्यवस्था करके छहों को, गुप्त मार्ग से प्रागपुर पहुंचा दिया। पोलासपुर में उसने किसी को इस घटना का पता नहीं चलने दिया।

छहों जन सकुशल प्रागपुर पहुँचे। मीठी मांजी के घर गये। जिनदास का नाम सुनते ही मां जी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने अत्यन्त आदर के साथ उन्हें अपने घर में ठहराया। वृद्धा को यह जान कर बड़ा हर्ष था कि जिनदास मुझे भूले नहीं हैं। उसने बड़े प्रेम के साथ उनकी कुशल-क्षेम पूछी।

कुछ दिन वहां रह कर आवड़ आदि ने पोलासपुर के लिए एक पत्र तैयार किया, जिसमें माता-पिता के स्वर्गवास का समाचार लिखा था। वह पत्र एक आदमी के साथ पोलासपुर भेज दिया गया। उस पत्र को पाकर जिनदास ने वह सब लोकाचार किया जो ऐसे अवसर पर किया जाता है। परन्तु उसके लोकाचार में धार्मिकता का पुट तो होना स्वाभाविक ही
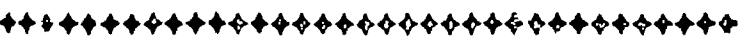
था। अतएव उसने दीनों, दरिद्रों, अनाथों और अपङ्गों को मुक्त हस्त से दान देकर साता पहुंचाई। पोलासपुर के सभी प्रतिष्ठित और साधारण लोग जिनदास के घर समवेदना प्रकट करने के लिए आए। जिनदास ने उन सब के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और संसार की अनित्यता का प्रासगिक उल्लेख किया। यथा-समय मातृ-पितृशोक से निवृत्त होकर जिनदास अपने काम-काज में लगे। जब भाइयों का, मिलने के लिए सपत्नीक आने का समाचार आया तो उन्हों ने इस सवाद को नगर में फैला दिया। नगर-निवासी इस समाचार को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और जिनदास के भाइयों के सपत्नीक आने की वाट जोहने लगे। सब लोग उन्हें देखने के लिए उत्कठित थे।

निश्चित समय पर तीनों भाई अपनी स्त्रियों के साथ बड़े ठाठ-बाट से रवाना हुए। उन्होंने जिनदास के कथनानुसार ही सब शाही व्यवस्था की। अश्वों के रथ में सवार होकर पोलासपुर पहुँचे। नगर के बाहर वे ठहर गए। समाचार पाकर जिनदास अपने स्वजनों, परिजनों और मित्रों के साथ उनका स्वागत करने और नगर प्रवेश कराने के लिए उनके सामने गए। भाई-भाई बड़े प्रेम से मिले। जिनदास को तीनों भाइयों ने अँकवार में भर लिया और छाती से लगाया। जिनदास ने उनके चरणों को स्पर्श किया और अपनी नम्रता प्रकट की।

जिनदास के भाइयों का उसके प्रति और उसकी पत्नी के प्रति कितना कठोर व्यवहार रहा, यह बात ध्यान में रखकर जब हम जिनदास के अपने भाइयों के प्रति किये गये व्यवहार

पर विचार करते हैं; तो जिनदास की उदारता और महानुभावता की भूरि-भूरि प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। जिनदास सामान्य मानव नहीं, देवता पुरुष जान पड़ता है। पल भर के लिए भी उसके मन में प्रतिशोध लेने की भावना उत्पन्न नहीं हुई। क्षण भर के लिए भी उसे अहंकार ने अभिभूत नहीं किया। एक बार भी उसने नहीं सोचा कि—जिन्होंने मुझे घर-द्वार छोड़ने के लिए बाध्य किया, उनसे मुझे क्या प्रयोजन है? इन्हें अपने कर्मों का फल भुगतने दो। जितना कष्ट पाएँगे, उतनी ही इनकी अक्ल दुरुस्त होगी। यही नहीं, उसने पूर्ण आत्मीयता के साथ अपने भाइयों को अपनाया और इस ढंग से अपनाया कि उनकी प्रतिष्ठा को रंच मात्र भी धक्का न लगे। उसने उनकी और अपनी प्रतिष्ठा को अभिन्न समझा।

वास्तव में इस प्रकार की उदारता संसार में क्वचित् ही देखने को मिलती है। वह उन्हीं में मिल सकती है, जिन्होंने धर्म के ऊपरी कलेवर को ही नहीं, धर्म के मर्म को समझा हो और अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया हो। नीतिकार ठीक ही कहते हैं:—

उपकारिषु यः साधुः, साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः, सः साधुः सद्भिरुच्यते॥

अर्थात्—अपने ऊपर उपकार करने वालों के प्रति जो साधुता-भलमनसाहत-दिखलाता है, उसकी भलमनसाहत का कोई विशेष मूल्य नहीं है। भलमनसाहत उनकी प्रशंसनीय है जो अपना अनिष्ट-अपकार-करने वालों के प्रति दिखलाते हैं।

इस कथन के अनुसार जिनदास की साधुता-सज्जनता-निस्सन्देह प्रशसनीय है। उसने अत्यन्त आदर और विनय के साथ अपने भाइयों का स्वागत किया। इस स्वागत-समारोह में सुगुणी भी सम्मिलित हुई थी। एक ओर जिनदास अपने भाइयों का सत्कार कर रहा था तो दूसरी ओर सुगुणी अपनी जेठानियों के सत्कार में व्यस्त थी।

स्वागत-सत्कार का वह दृश्य बड़ा ही भावमय और प्रेरणा प्रद था। जिसने देखा वही इन भाइयों को आदर्श भाई समझने लगा। भाई का भाई के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए, यह सीखने के लिए जिनदास का उदाहरण बड़ा सुन्दर है। वहाँ उपस्थित दर्शक यद्यपि पूर्व वृत्तान्त को नहीं जानते थे, फिर भी उन्होंने उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की। सब लोग इस वन्धुमिलन से अत्यन्त हर्षित हुए।

अच्छा चौघड़िया देखकर जिनदास अपने भाइयों और भौजाइयों को नगर में लाया। सब लोग आनन्दपूर्वक रहने लगे। अब किसी के मन में ईर्षा-द्वेष का भाव नहीं रह गया था।

२४
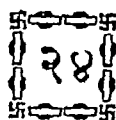
पुत्रप्राप्ति और निवृत्ति

आज जिनदास की हवेली ने अपूर्व शोभा धारण की थी। ऐसी चहल-पहल दिखाई पड़ती थी, जैसी पहले कभी दिखाई नहीं दी। बाहर मांगलिक वाद्य बज रहे थे। सहनाई की मधुर ध्वनि कानों में अमृत घोल रही थी। रास्ते से आने-जाने वाले भी थोड़ी देर के लिए वहाँ रुक जाते थे और उनके रुकने से काफ़ी भीड़ एकत्र हो रही थी।

जिनदास के द्वार पर आज भिखारियों का भी जमघट था। इतने भिखारी इकट्ठे हुए थे कि उन्हें गिनना कठिन था। खासी बड़ी फौज सी थी। लोग उस भीड़ को देख कर विस्मित हो रहे थे कि आखिर पोलासपुर में इतने भिखारी कहाँ से आ पहुँचे? मगर जिनदास की ओर से उन सब को भोजन और वस्त्र का दान किया जा रहा था। जिनदास ने अपने सेवकों को आदेश दिया था कि अपने द्वार से कोई निराश होकर न लौटे। जिसे भोजन चाहिए उसे भोजन देना। जिसके पास वस्त्र न हो उसे वस्त्र देना—सब को कुछ न कुछ देकर विदा करना।

हवेली के भीतर इतनी नारियाँ एकत्र हुई थीं कि विशाल हवेली भी आज संकीर्ण जान पड़ती थी। अनेक स्त्रियाँ मङ्गल-गान कर रही थीं। कोइ हँस रही थीं, कोई बातें कर रही थीं, कोई सुगुणी का बखान कर रही थीं, कोई जिनदास का यशो-गान कर रहो थीं। सारी हवेली शब्दायमान हो रही थी।

जिनदास और सुगुणी अपने उदार एव आदर्श व्यव-हार से नगर के सर्व-प्रिय नागरिक थे। पहले बतलाया जा चुका है कि वे सब के कामों में सम्मिलित होते थे और समुचित भाग लेते थे। सभी का खयाल था कि जिनदास हमारे प्रति अत्यन्त कृपालु है। उस नगर मे सभी उनके हितैषी थे, सभी मित्र थे, सभी उन्हें हृदय से प्रेम करते थे। कोई भी उनका शत्रु नहीं था और वे भी किसी के शत्रु नहीं थे। उन्होंने कभी किसी को हानि पहुँचाने का विचार तक नहीं किया था। आदर्श श्रावक के २१ गुण बतलाये गये हैं। अर्थात् जिसमें इक्कीस मानवोचित विशेषताएँ होती हैं, वही वास्तव में आदर्श श्रावक पद का अधिकारी होता है। वह सब जिनदास के जीवन में विद्यमान थे। यथा—

(१) अक्षुद्र—जो तुच्छ स्वभाव वाला न हो, गंभीर हो।

(२) रूपवान्—अपनी पवित्र आन्तरिक भावनाओं के कारण जिसके रूप में मनोहरता हो।

(३) सौम्यप्रकृति—जो स्वभाव से सौम्य हो, अर्थात् जिसकी आकृति शान्त हो और रूप विश्वास उत्पन्न करने

वाला हो। ऐसा व्यक्ति प्रायः पाप नहीं करता और स्वभावतः श्रद्धा पात्र बनता है।

(४) लोक प्रिय—इह लोक और परलोक में अहितकर कार्य नहीं करता तथा दान-शील आदि का सेवन करने के कारण जनता का प्रिय होता है।

(५) अक्रूर—क्लेश रहित परिणाम वाला होना है। किसी के छिद्र नहीं खोजता। अनुकम्पाशील होता है। किसी के चित्त को अपने व्यवहार से आघात नहीं पहुँचाता।

(६) भीरु—पापों से डरता है।

(७) अशठ—कभी धूर्त्तता नहीं करता—कपट से दूर रहता है।

(८) सदाक्षिण्य—अपने कार्य में बाधा डाल करके भी सदा दूसरों का कार्य करने वाला—परोपकारी होता है।

(९) लज्जालु—पाप करते लजाने वाला और ग्रहण किये हुए सदाचार का परित्याग न करने वाला।

(१०) दयालु—दयाशील। दुखियों का दुख यथाशक्ति दूर करने वाला।

(११) मध्यस्थ—समभाव में विचरण करने वाला; किसी पर राग-द्वेष न रखने वाला; अनुचित पक्षपात न करने वाला।

(१२) सौम्यदृष्टि—प्रेम पूर्ण दृष्टि वाला हो, जो देखते ही दूसरे प्राणियों में प्रेम उत्पन्न कर दे।

(१३) गुणानुरागी—सद्‌गुणों और सद्‌गुणवानों पर अनुराग रखने वाला।

(१४) सत्कथक—सुपक्षयुक्त-सदाचारी तथा सदाचार की बातें करने वाले मित्रों वाला। अर्थात् धर्म, नीति और सदाचार की बातें कहने वालों के सम्पर्क में रहने वाला।

(१५) दीर्घदर्शी--प्रत्येक कार्य के भले-बुरे परिणाम का भली भाँति विचार करने वाला।

(१६) विशेषज्ञ—हित-अहित को भलीभाँति जानने वाला।

(१७) वृद्धानुगत--परिपक्व बुद्धि वाले बुजुर्गों का अनुसरण करने वाला।

(१८) विनीत—बड़ों का विनय करने वाला।

(१९) कृतज्ञ--दूसरे द्वारा किये हुए छोटे से छोटे उपकार को भी नहीं भूलने वाला।

(२०) परहितार्थकारी--सदा दूसरों का हित करने वाला।

(२१) लब्ध लक्ष्य--श्रावक के धर्म को भलीभाँति समझने वाला। श्रावक की धार्मिक क्रियाओं को जल्दी ही समझ लेने वाला।

इन गुणों के संबंध में विचार किया जाय और जिनदास तथा सुगुणी के चरित को गहरी दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट

प्रतीत होगा कि यह सभी गुण इस दम्पती में नैसर्गिक रूप में विद्यमान थे। वास्तविक बात यह है कि जिसमें सच्ची धार्मिकता आ जाती है, उसमें इन गुणों का विकास अपने आप ही हो जाता है। उसे इन्हें सीखने की आवश्यकता नहीं होती। यह गुण सच्ची धार्मिकता के फल हैं। कोई व्यक्ति वास्तव में धार्मिक है अथवा नहीं, यह जानने के लिए यह गुण कसौटी का काम देते हैं। जिनदास में इन सभी का अच्छा विकास हुआ था, क्यों कि उसकी नस-नस में धार्मिकता भरी हुई थी। इसी कारण वह पोलासपुर नगर की समग्र जनता का प्रेम पात्र बन चुका था। सुगुणी जिनदास की ही छाया थी। उसमें भी यही सब विशेषताएं थी, जो जिनदास में थी। वह पति की सच्ची अर्धांगिनी थी और जिनदास उसका सच्चा अर्धांग था।

सारा पोलासपुर इस आदर्श दम्पती के उच्च आचार, विचार और उच्चार का प्रशंसक था। सभी उसे अपना आत्मीय समझते थे। ऐसी स्थिति में आज के दिन भला कौन जिनदास को बधाई देने न आता ?

आज जिनदास के घर में प्रकाश का उदय हुआ था। आज सुगुणी की रत्नकुक्षि से सुपुत्र ने जन्म ग्रहण किया था। इसी उपलक्ष्य में यह महान् समारोह हो रहा था। न केवल जिनदास के हृदय में, वरन् उनके सभी हितैषियों के हृदय में अपूर्व हर्ष और उल्लास था।

जिनदास और सुगुणी को किसी वस्तु की कमी नहीं थी। संसार का समस्त वैभव और समग्र सुख, पुण्य के उदय

से अनायास ही उन्हें प्राप्त था। अब तक के जीवन में सिर्फ एक ही कमी थी-सन्तति का न होना। आज वह कमी भी दूर हो गई। जिनदास की हवेली आज जगमगा उठी। वह मानों सजीव हो उठी।

यथा समय पुत्र का नामकरण संस्कार किया गया। जिनदास ने अपने धर्मप्रेम के कारण पुत्र का नाम 'धर्मोदय' रक्खा।

धर्मोदय शिशु दूज के चांद के समान वृद्धि को प्राप्त होता गया। उसकी बालचेष्टाएँ माता-पिता को मोहने लगीं। उसकी तोतली बोली हृदय को हरण करने लगी। सुगुणी अत्यन्त सावधानी के साथ शिशुसंगोपन के सिद्धान्तों के अनुसार उसका पालन-पोषण करने लगी। नियमित खान-पान, रहन-सहन आदि के कारण बालक स्वस्थ और सुन्दर दिखलाई देता था। उसकी चेष्टाएँ उसके उज्ज्वल भविष्य की साक्षी दे रहीं थीं।

बालक धर्मोदय आखिर आठ वर्ष का हुआ। उस समय उसे विद्याभ्यास के लिए गुरु के पास भेजा गया। धर्म सीखने के लिए उसे मुनिराजों के सम्पर्क में लाया गया। इस तरह धर्मोदय अल्प काल में ही सब लौकिक विद्याओं में तथा कलाओं में परिपक्व हो गया और सामायिक प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाओं में भी कुशल हो गया।

यौवन अवस्था होने पर जिनदास ने उसके विवाह के संबंध में विचार किया। सुगुणी और जिनदास ने मिल कर

निश्चय किया कि हमें स्वधर्मी के साथ ही संबंध स्थापित करना चाहिए। अतएव अपने अनुरूप कुल की सुन्दरी और धार्मिक संस्कार वाली कन्या की खोज करके धर्मोदय का उसके साथ विवाह कर दिया।

विवाह के विषय में विभिन्न देशों और समाजों में अलग-अलग पद्धतियाँ प्रचलित हैं। साधारणतया आज जाति के आधार पर विवाह-संबंध होते हैं। धर्म भिन्न होने पर भी वर और कन्या की जाति यदि एक है तो उनका विवाह कर देने में कोई वाधा नहीं समझी जाती। यही नहीं, अगर जाति भिन्न हो और धर्म एक हो तथा और भी सब प्रकार की अनुरूपता हो तो भी उनमें विवाह संबंध नहीं होता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि लोग धर्म की अपेक्षा जाति को ज्यादा महत्व देते हैं। यह कहाँ तक उचित है, धर्म प्रेमी सज्जनों को इस बात पर विचार करना चाहिए।

पति-पत्नी में धर्म की विषमता होने पर अनेक प्रकार की असुविधाएँ होती हैं। दोनों का हृदय एक दूसरे से दूर रहता है। उनमें एकरूपता कायम नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त उनसे जो सन्तति होती है, उसकी श्रद्धा एकरूप नहीं हो पाती। पिता की श्रद्धा और प्रकार की तथा माता की श्रद्धा और प्रकार की होती है, तो सन्तान गड़बड़ में पड़ जाती है और वह किसी प्रकार का निश्चय करने में असमर्थ हो जाती है। अतएव विचक्षण और धर्म प्रिय मनुष्य धर्म की एकरूपता को ही प्रधानता देते हैं। जैन शास्त्रों में जाति का यह अर्थ नहीं

माना गया है जो आज कल माना जाता है। यहाँ जाति का अर्थ मातृपक्ष समझा जाता है। अभिप्राय यह है कि मातृपक्ष की उत्तमता का विचार तो अवश्य कर लेना चाहिए, किन्तु प्रधानता धर्म को ही देना चाहिए। स्वधर्मी के साथ ही कन्या का लेन-देन करने से अनेक लाभ होते हैं। जिनदास और सुगुणी की रग-रग में धर्म के प्रगाढ़ संस्कार भरे थे। अतएव उन्होंने धर्मोदय का स्वधर्मी कन्या के साथ ही विवाह करना उचित समझा।

धूमधाम के साथ विवाह हो गया। वधू ने आकर जिनदास की हवेली को गुलजार कर दिया। सुगुणी का हृदय हर्ष से भर गया।

दो व्यक्तियों की क्रिया ऊपर से एक सरीखी दिखाई देने पर भी वस्तुतः एक ही सी नहीं होती। अगर उनमें एक ज्ञानी और दूसरा अज्ञानी है तो क्रिया के आन्तरिक रूप में अत्यधिक अन्तर पड़ जाता है। इसी अभिप्राय से शास्त्र में कहा गया है कि अज्ञानी जिस क्रिया से आस्रव निपजाता है, ज्ञानी उसी से संवर की साधना कर लेता है। इस महान् अंतर का प्रधान कारण उनकी भावना का भेद है। जैसी भावना से कार्य किया जाता है, वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। अज्ञानी जन केवल मोह से प्रेरित होकर अपनी संतान का विवाह आदि क्रियाएँ करते हैं और जब पुत्रवधू आ जाती है तो हर्ष मान लेते हैं। वे अपने अनुराग के दायरे को बढ़ाते हैं; अधिक मोह के चक्र में फंसते हैं। ज्ञानी गृहस्थ भी अपनी संतति का विवाह करता

है, परन्तु उसकी भावना निराली ही होती है। वह अपनी सन्तान में चतुर्थ व्रत की पात्रता उत्पन्न करने के विचार से उसका विवाह करता है। उन्हें पूरा गृहस्थ बना कर पारिवारिक उत्तरदायित्व उनके कंधों पर छोड़ देता है और आप निश्चिन्त होकर, निवृत्ति धारण कर लेता है। संयम ग्रहण करने की योग्यता होने पर गृहत्याग करके अनगार बन जाता है। अनगार बनने की शक्ति नहीं होती तो भी निवृत्तिमय जीवन यापन करता हुआ विशिष्ट गृहस्थधर्म का पालन करता है। इस प्रकार एक अपने धर्म की वृद्धि के लिए सन्तान का पालन, पोषण, विवाह आदि करता है और ऐसा करते समय अपनी अलिप्तता कायम रखता है, और दूसरा अपने मोह की वृद्धि के लिए अनुरक्ति-भावना के साथ वही कार्य करता है।

अब आप विचार कीजिए कि एक सरीखी प्रतीत होने वाली क्रिया में इन दो मनुष्यों का उद्देश्य कितना भिन्न है? यही उद्देश्य-भेद उनके फल में महान् भेद उत्पन्न कर देता है।

जिनदास ज्ञानवान् श्रावक था। उसका उद्देश्य भी बहुत ऊँचा था। उसने निवृत्तिमय धर्म-जीवन यापन करने के अभिप्राय से धर्मोदय का विवाह सम्पन्न किया।

जिनदास ने धर्मोदय को अपनी देखरेख में व्यापार आदि लौकिक कार्यों में कुशल बना दिया था। धर्मोदय ने धीरे-धीरे गृहस्थी का सारा काम-काज सँभाल लिया। जिनदास को विश्वास हो गया कि अब धर्मोदय इस गृहस्थी का भार उठाने में समर्थ हो गया है।

उधर सुगुणी ने अपनी पुत्रवधू को भी इसी प्रकार व्यवहारकुशल बना दिया था। उसने भीतर का सब काम-काज अपने नियंत्रण में ले लिया था। अतः सुगुणी भी वेफिक्र हो चुकी थी।

इस प्रकार इस दम्पती ने गार्हस्थिक चिन्ताओं से मुक्त होकर धर्म की आराधना का निश्चय किया। सोचा—जिस उद्देश्य के लिए गृहस्थ जन सन्तान की कामना करते हैं, वह उद्देश्य पूर्ण हो चुका है। अब हमें एकाग्र भाव से आत्महित की ओर लक्ष्य देना चाहिए।

यह सोच कर जिनदास और सुगुणी ने चारों खंध धारण कर लिए। उन्होंने सचित्त के आरंभ का त्याग कर दिया। उनका सारा समय सामायिक, प्रतिक्रमण, पोषध, उपवास आदि धार्मिक क्रियाओं में व्यतीत होने लगा। इन क्रियाओं को करते समय वे अपनी आन्तरिक वृत्तियों की ओर भी पूरा लक्ष्य रखते थे। वे कोरे इन्द्रियदमन को ही महत्त्व नहीं देते थे, वरन् मनोनिग्रह को भी महत्त्वपूर्ण मानते थे। बल्कि मनोनिग्रह की प्रधानता समझते थे। मनोनिग्रह के अभाव में कोरी बाह्य तपस्या केवल कायकष्ट ही होती है। ऐसी तपस्या से आत्मा की विशुद्धि नहीं होती। आत्मशुद्धि के लिए मन की विशुद्धि होना चाहिए। चित्त में से ज्यों-ज्यों राग-द्वेष कषाय आदि के संस्कार कम होते जाते हैं, त्यों-त्यों आत्मा के गुणों का विकास होता है। समभाव की वृद्धि ही धर्म का वास्तविक स्वरूप है।

इस तथ्य को भलीभाँति समझने के कारण जिनदास और सुगुणी ने अधिक से अधिक समभाव प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वे बाह्य और आन्तरिक तपस्या का सुन्दर समन्वय करके धर्म के मार्ग पर अग्रसर हुए।

२५

ऋषिराज का शुभागमन

उन्हीं दिनों पोलासपुर में ऋषिवर धर्मजय महाराज का पदार्पण हुआ। वे मुनिराज चरणक्रिया और करणक्रिया के धारक थे। आचार्य की आठ सम्पदाओं से सुशोभित थे और छत्तीस गुणों से सम्पन्न थे। वह विभिन्न जनपदों में अप्रतिबन्ध विहार किया करते थे। उनके साथ और भी बहुसंख्यक मुनि थे। उन सब के बीच धर्मजय ऋषि ऐसे शोभायमान होते थे, जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा सुशोभित होता है। आचार्य महाराज को चन्द्रमा की उपमा देना बहुत उपयुक्त तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह हीनोपमा है। चन्द्रमा कलंक से युक्त है, किन्तु आचार्यजी सब प्रकार के कलंक से मुक्त थे। उनमें ज्ञान, दर्शन सम्बन्धी कोई कलँक नहीं था। चन्द्रमा का प्रकाश जड़ होता है जब कि आचार्य महाराज चैतन्यमय प्रकाश के पुंज थे। इसी प्रकार चन्द्रमा की अपेक्षा और भी अनेक विशिष्टताएँ उनमें थीं। तथापि इससे अधिक अच्छी दूसरी उपमा न होने से उन्हें चन्द्रमा के समान कहना पड़ता है। यों मुनिराज अपने ज्ञान से अपूर्व प्रकाश प्रदान करते हैं। कहा भी है—

विषयसुखनिरस्ताभिलाषः प्रशमगुणगणाभ्यलंकृतः साधुः ।
द्योतयति यथा न तथा, सर्वाण्यादित्यतेजांसि ॥

अर्थात्—जिन्होंने पाँचों इन्द्रियों के विषयों से होने वाले सुखों की अभिलाषा का त्याग कर दिया है; अर्थात् इन्द्रिय-जनित सुख को दुःख का कारण समझ कर तथा क्षणविनश्वर जान कर जो उस सुख के प्रति सर्वथा निस्पृह बन गये हैं जो प्रशम (कषायों की उपशान्ति) के कारण अनेक गुणों से विभूषित हैं, ऐसे साधु संसार में जो ज्ञान का प्रकाश फैलाते हैं, वैसा प्रकाश सूर्यों का प्रकाश भी नहीं फैला सकता ।

मुनिजन अपनी सुधामयी वाणी से श्रोताओं के मिथ्यात्व, अज्ञान और सन्देह रूप अन्धकार का निवारण करते हैं और उनमें ज्ञान की लोकोत्तर ज्योति प्रकट कर देते हैं, क्या सूर्य में ऐसा करने की शक्ति है ? चन्द्रमा वह ज्योति जगा सकता है ? कदापि नहीं ।

ऋषिश्वर धर्मजय देश-देश की भव्य जनता को वीतराग देव की प्रकृष्ट वाणी सुना कर सत्पथ प्रदर्शित करते हुए और उसके उद्धार के उपायों का निदर्शन कराते हुए पोलासपुर में पधारे ।

पोलासपुर में पधार कर ऋषिराज नगर के बहिर्भाग में अवस्थित एक मनोरम उद्यान में ठहर गए । उन्होंने उद्यानपाल की अनुमति ले ली और आवश्यक अचित्त वस्तुओं की भी याचना कर ली । इतना करके आचार्य महाराज अपने ज्ञान-ध्यान में मग्न हो गए ।

वाला मुनि मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ और ऊँचा चढ़ता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है। क्षपकश्रेणी वाला दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवे गुणस्थान में जा पहुंचता है। वह ग्यारहवें गुणस्थान में नहीं जाता।

आठवें गुणस्थान मे मुनि पॉच वस्तुएं करता है—(१) स्थितिघात (२) रसघात (३) गुणश्रेणी (४) गुणसंक्रमण और अपूर्वस्थितिबंध।

ज्ञानावरण आदि कर्मों की लम्बी स्थिति को अपवर्त्तनाकरण के द्वारा घटा देना स्थितिघात कहलाता है। इसी प्रकार कर्मों की तीव्र फल देने की शक्ति को मन्द कर देना रसघात कहलाता है। स्थितिघात के द्वारा अपने-अपने नियत समयों से हटाए हुए कर्म के दलिकों को पहले ही अन्तर्मुहूर्त्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणी कहलाती है। पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्त्तमान में बँधने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में पलट देना गुणसक्रमण कहलाता है। पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति वाले कर्मों का बंध होना अपूर्व स्थितिबंध कहलाता है।

यह पॉच विशेषताएँ प्राप्त करने के कारण अष्टम गुणस्थानवर्त्ती मुनि सब कर्मों के सेनापति मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

तत्पश्चात् नौवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। नौवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षपण प्रारम्भ हो

जाता है। यह गुणस्थान आठवें की अपेक्षा अधिक विशुद्धि का स्थान है। इस के अन्त में संज्वलन कषाय के क्रोध, मान, माया अंश का क्षय हो जाता है। तब दसवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। दसवें गुणस्थान में सिर्फ सज्वलन लोभ का ही सूक्ष्म उदय रहता है। दसवें गुणस्थान के बाद उपशमश्रेणी वाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है और वहाँ अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त ठहर कर नीचे गिर जाता है। परन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्षपकश्रेणी वाला जीव सीधा बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। दसवें गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्म पर पूर्ण विजय प्राप्त हो जाती है, अतएव बारहवें गुणस्थान वाला जीव पूर्ण रूप से वीतराग दशा प्राप्त कर लेता है। कर्मों के सेनापति मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर डालने से आत्मा में महान् और प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतएव बारहवें गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त्त जितने समय में ही वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिक कर्मों का भी क्षय करके अनन्तज्ञानवान्, अनन्त-दर्शनवान् और अनन्तशक्तिमान् बन कर तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। यही जीवन्मुक्त दशा है, इसी को आर्हन्त्यदशा कहते हैं, इसे अपरा मुक्ति भी कहते हैं। इसी गुणस्थान को प्राप्त केवली भगवान् जगत् के कल्याण के लिए धर्म का उपदेश करते हैं। इस गुणस्थान में कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त तक और अधिक से अधिक कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक रह सकते हैं।

इसके पश्चात् योगों का भी निरोध करके अर्थात् मन, वचन एवं काय के व्यापार को पूर्ण रूप से रुद्ध करके भगवान्

अयोग केवलीदशा को प्राप्त करते हैं। यह चौदहवाँ गुणस्थान है। चौदहवें गुणस्थान की स्थिति बहुत थोड़ी है। अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पाँच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने ही समय तक चौदहवें गुणस्थान में ठहर कर अयोग केवली भगवान् सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं और सदैव के लिए अजर, अमर, अविनाशी, अनन्त आनन्द के धाम, ज्योतिर्मय बन जाते हैं।

मुनिराज स्वयंभी परिषद् के मध्य में विराजमान थे। चिरकालीन रत्नत्रय की आराधना के फलस्वरूप उनकी आत्मा में विशिष्ट विशुद्धि उत्पन्न हुई। वे सातवें गुणस्थान से ऊँचे उठे और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने मोह-नीय कर्म को और फिर तीनों घातिक कर्मों को, पूर्वोक्त क्रम के अनुसार खपा कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। वे केवली हो गए।

अचानक ही आकाश में दुंदुभी का मधुर घोष होने लगा। सुरगण हर्ष के साथ 'जय-जय' के नाद से गगन मण्डल को गुंजित करने लगे। वायुमण्डल में एकाएक परिवर्त्तन हो गया! सब श्रोता विस्मित रह गए। देवगण वहाँ आकर उपस्थित हुए। तब केवली भगवान् का उपदेश प्रारंभ हुआ:—

भव्य जीवो! ३४३ घनरज्जु प्रमाण इस लोक में इस जीव ने अनत-अनंत पुद्गलपरावर्त्तन पूरे किये हैं। यह जीव कभी स्वर्ग में तो कभी नरक में, कभी मनुष्य गति में तो कभी तिर्यञ्च गति में जन्म लेता आ रहा है और वहाँ की आयु पूर्ण करके

मृत्यु का ग्रास बनता आ रहा है। कभी त्रसपर्याय में और कभी स्थावर पर्याय में उत्पन्न हुआ। कभी पृथ्वीकाय में, कभी जल काय में, कभी अग्निकाय में, कभी वायुकाय में और कभी वनस्पतिकाय में जन्म लेता और मरता है। संक्षेप में, चारों गतियों और चौरासी लाख जीवयोनियों में अनादि काल से जीव परिभ्रमण कर रहा है। इस परिभ्रमण की परम्परा में इस जीव ने कैसे-कैसे कष्ट सहन किये हैं, कितनी-कितनी दुस्सह व्यथाएँ भोगी हैं, इसका शब्दों द्वारा उल्लेख होना असंभव है। अनन्त जिह्वाएँ भी उन वेदनाओं, व्यथाओं, दुःखों और कष्टों का वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं। संसार वेदनाओं का घर है, यह आप जानते हैं। संसारी जीवों को कैसी-कैसी व्यथाएं भोगनी पड़ती है, इसका भी कुछ-कुछ अनुभव समस्त संसारी जीवों को है।

बहुत-से जीव तो ऐसे भी हैं जो प्रबलतर कर्मों से आच्छादित है और इस कारण अनादिकाल से लेकर आज पर्यन्त भी कभी त्रस पर्याय नहीं प्राप्त कर सके हैं। वे निगोद की निकृष्टतम अवस्था में पड़े हैं और वहाँ एक श्वास जितने काल में अठारह बार जन्म-मरण का दुःख उठा रहे हैं।

अनन्त-अनन्त पुण्य का उदय होने पर त्रसपर्याय मिलती है। उसमें भी द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय होना, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय होना, चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय होना अनन्त पुण्य का फल समझना चाहिए। मगर पंचेन्द्रिय होकर भी मनुष्य गति मिल जाना बड़ा कठिन है। मनुष्य भी हो गए, किन्तु

अनार्य क्षेत्र में, अनार्य जाति में या अनार्य कुल में उत्पन्न हुए तो मनुष्य भव पाना न पाने के समान ही हो जाता है। उस स्थिति में धर्म की साधना करने का सुयोग नहीं मिलता। धर्म का सुयोग वही पुण्यवन्त पाते हैं जो आर्य जाति में, धर्मसंस्कार से संपन्न कुल में जन्म लेते हैं। सौभाग्य समझो आप अपना कि आज आपको धर्म-साधना की समग्र सामग्री प्राप्त है।

भव्य जनो! आपको उदार पुद्गलों से बना हुआ औदारिक शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीर को पाकर तथा अन्य समस्त अनुकूल संयोग पाकर आपको धर्म की आराधना करनी चाहिए। जो यह संयोग पाकर धर्म का आचरण नहीं करता, वह अपना मनुष्यजीवन व्यर्थ गंवा देता है। उसका जीवन पशु के जीवन से भी गया-बीता होता है। उसने अपनी जननी को व्यर्थ ही अपने जन्म से कष्ट पहुँचाया है। वस्तुतः मानव-जीवन की चरम सफलता आत्मा का शाश्वत कल्याण करने में ही है और आत्मकल्याण का एक मात्र साधन धर्म है। अतः प्रत्येक विवेकशील मनुष्य को धर्म के पथ पर ही चलना चाहिए। क्योंकि कहा है:—

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रज पादशौच विधत्ते—
पीयूषेण, प्रवरकरिणं वाहयत्यैन्धभारम् ।
चिन्तारत्नं विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं,
यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्त. ॥

सोने के थाल में धूल भरने वाला मूर्ख गिना जाता है,

अमृत से पैर धोने वाला नादान माना जाता है, ऐरावत के समान उत्तम गजराज पर ईंधन लादने वाला नासमझ समझा जाता है, कौवों को उड़ाने के लिए चिन्तामणि रत्न फैंकने वाला बहुत बड़ा मूर्ख माना जाता है; किन्तु जो प्रमादी पुरुष इन्द्रियों के विषय-भोग भोगने में इस दुर्लभ मानव-भव को गँवा देता है, वह इन सब से भी बढ़ कर मूर्ख है।

भद्र जीवो! मानवजन्म की सार्थकता प्राप्त करने के लिए धर्म की आराधना करना आवश्यक है; परन्तु धर्माराधना करने से पहले सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन मोक्ष-मार्ग में पहला कदम है। इसके अभाव में ज्ञान और चारित्र सम्यक् नहीं होते। सम्यग्दर्शन का अर्थ है—शुद्ध श्रद्धा। जिनप्रणीत तत्त्वों पर प्रगाढ़ आस्था होने पर ही सम्यक्त्व को प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए जीव को पाँच लब्धियाँ करनी पड़ती हैं। वे यह हैं—(१) क्षयोपशम-लब्धि (२) विशुद्धि-लब्धि (३) देशना-लब्धि (४) प्रयोग-लब्धि और (५) करण-लब्धि। आठों कर्मों का अनुभाग (रस) समय-समय पर घटा हुआ उदय में आना क्षयोपशम-लब्धि है। फिर सातावेदनीय का प्रकट होना और धर्मानुराग जागना विशुद्धि-लब्धि है। तत्पश्चात् जीवादि तत्त्वों का बोध प्राप्त करना और आचार्य आदि का बखान करना रूप देशना-लब्धि प्राप्त होती है। इसके बाद आत्मा में जब विशुद्धता होती है और सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति की हानि होती है, तब जीव को प्रयोग-लब्धि की प्राप्ति होती है। यह चार लब्धियाँ भव्य-जीव भी पाता है और अभव्यजीव भी पा लेता है। लेकिन

पाँचवीं करण लब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त हो सकती है। उसके तीन भेद हैं-यथा प्रवृतिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। यह तीनों करण अर्थात् आत्मा के परिणाम क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम हैं। जीव को जब तीनों करणों की प्राप्ति होती है, तभी उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है—और तभी चौथा गुणस्थान मिलता है।

आत्मिक गुणों के विकासक्रम की दृष्टि से देखा जाय तो पहला मिथ्यात्वनामक गुणस्थान जीव की निकृष्टतम अवस्था है। इस गुणस्थान में जीव की दृष्टि अर्थात् समझ या श्रद्धा विपरीत होती है। जैसे धतूरा खा लेने वाले जीव को या पीलिया रोग के रोगी को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है, इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव कुदेव को सुदेव, कुगुरु को सद्गुरु और कुधर्म को सद्धर्म समझता है। यह गुणस्थान मोहनीय कर्म के उदय से होता है और मोहकर्म ही जीव की समझ को विपरीत बना देता है।

दूसरा गुणस्थान उस समय होता है, जब जीव अन्तर्मुहूर्त्त के लिए औपशमिक सम्यक्त्व पाकर पुनः चौथे गुणस्थान से गिरता है। इस गुणस्थान में जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि सम्यक्त्व का कुछ स्वाद उसमें बना रहता है।

मिश्रदर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या रहती है, उस समय की उसकी स्थिति सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाती है। इस गुणस्थान

में अनन्तानुबंधी कषाय का उदय नहीं रहता, अतः कुछ शुद्धता रहती है, किन्तु मिथ्यात्व का उदय होने से अशुद्धता भी रहती है। इस कारण तीसरे गुणस्थान में मिले-जुले परिणाम होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर भी जब चारित्रमोहनीय कर्म की अप्रत्याख्यानावरण प्रकृति का उदय रहता है, तब चौथा गुणस्थान होता है और जब अप्रत्याख्यानावरण का नाश हो जाता है और प्रत्याख्यानावरण का उदय रहता है, तब देशविरति नामक पाँचवाँ गुणस्थान होता है। यह गुणस्थान श्रावक की भूमिका है। श्रावक की विरति अनेक प्रकार की होती है, किन्तु सभी श्रावक इसी में होते हैं। श्रावक में सम्यक्त्व का होना तो अनिवार्य है ही, एकदेशविरति भी होती है। उसकी श्रद्धा विशुद्ध हो जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव सच्चे देव, गुरु और धर्म को ही देव, गुरु और धर्म समझता है। कहा भी है:—

या देवे देवताबुद्धि र्गुरौ च गुरुतामतिः ।
धर्मे च धर्म धीः शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥

अर्थात्—सुदेव को देव समझना, सुगुरु को गुरु समझना और सद्धर्म को धर्म समझना सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्व को प्राप्त करते ही जीव को मिथ्यात्व से होने वाला आस्रव रुक जाता है। जितने अंशों मे वह विरति को धारण करता है, उतने अंशों में अविरतिजनित आस्रव भी रुक जाता है। और जितनी मात्रा मे आस्रव रुकता है, उतनी मात्रा

में संवर होता है। पाँचवें गुणस्थान के आगे पूर्णरूपेण विरति अङ्गीकार कर लेने पर छठा प्रमत्तसंयत गुणस्थान होता है। यह समस्त आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर देने वाले, महाव्रत, समिति और गुप्ति के धारक मुनियों को प्राप्त होता है।

इसके आगे का विकास क्रम पहले दिखलाया जा चुका है, अतएव उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जो सम्यक्त्वपूर्वक एकदेश चारित्र का पालन करता है, जिसमे अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषायों का सद्भाव नहीं रह जाता और जो शास्त्रप्रदर्शित श्रावकाचार के अङ्गों का पालन करता है, वह श्रावक कहलाता है। कहा भी है:—

सिद्धान्तश्रवणे श्रद्धा, विवेकव्रतपालनम् ।
दानादिकरणं सेवा, हीतच्छ्रावकलक्षणम् ॥

अर्थात्—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी द्वारा प्ररूपित सिद्धान्त को सुनने में श्रद्धा रखना, विवेक के साथ व्रतों का पालन करना, दान, शील, तप और भावना रूप चतुर्विध धर्म का आराधन करना और सन्तों की सेवा करना श्रावक के लक्षण हैं। और भी कहा है:—

धम्मो चउव्विहो दाण-सील-तव-भावणामइओ ।
सावय ! जिणेहिं भणिओ, तियसिन्दनरिन्दनमिएहिं ॥

अर्थात्—हे श्रावक ! देवेन्द्रों और नरेन्द्रों द्वारा नम-

स्कृत जिनों ने चार प्रकार का धर्म कहा है—दान, शील, तप और भावना।

इन चार प्रकार के धर्मों के भी अनेक प्रकार से भेद-प्रभेद किये गये हैं। दानधर्म के प्रधान तीन भेद हैं—ज्ञानदान, अभयदान और धर्मोपकरणदान। ज्ञानदान का स्वरूप एवं प्रभाव इस प्रकार है:—

दिन्नेण जेण जीवो वियाणया होइ बन्धमोक्खाणं।
तं होइ नाणदाणं, सिवसुहसंपत्तिवीजं तु॥
दिन्नेण जेण जीवो पुण्णं पावं च बहुविहमसेसं।
सम्मं वियाणमाणो, कुणइ पवित्ति निवित्तिं च॥
पुण्णम्मि पवत्तन्तो, पावइ य लहुं नरामरसुहाई।
नारयतिरियदुहाण य, मुच्चइ पावाउ सुणियत्तो॥
तिरियाण य मणुआण य, असुरसुराणं च होइ ज सुक्खं।
तं सव्वपयत्तेणं, पावइ नाणप्पभावेणं॥

अर्थात्—ज्ञानदान के देने से जीव बन्ध और मोक्ष का ज्ञाता हो जाता है, अतः वह मोक्ष रूपी सम्पत्ति का बीज है। ज्ञानदान जिसे दिया जाता है वह जीव पुण्य और पाप को पूरी तरह जान लेता है और उसी के अनुसार पुण्य में प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति करता है। पुण्य में प्रवृत्ति करने से मनुष्यगति और देवगति के सुखों को सरलता से प्राप्त कर लेता है और पाप से निवृत्त होने के कारण नरकगति एवं तिर्यंचगति के

दुःखों से बच जाता है। संसार में तिर्यञ्चों को, मनुष्यों को, असुरों को और सुरों को जो भी सुख है, वह सब ज्ञान के ही प्रभाव का फल है।

निर्मल ज्ञान के प्रभाव से ही जीव को संसार के सभी सुख प्राप्त होते हैं, परन्तु ज्ञानदान की विशेषता यह है कि उसके प्रभाव से जीव बिना कष्ट भोगे-सुखपूर्वक ही मोक्षसुख भी प्राप्त कर लेता है। अतएव ज्ञानदान सब दानों में श्रेष्ठ है।

इहलोयपारलोइयसुहाइं सव्वाइं तेण दिन्नाई।
जीवाण फुडं सव्वन्नुभासियं देइ जो नाणं॥
गयरागदोसमोहो, सव्वन्नू होइ नाणदाणेण।
मणुयासुरसुरमहिओ, कमेण सिद्धिं च पावेइ॥

जो मनुष्य सर्वज्ञ द्वारा भाषित ज्ञान का दान देता है, वह मानो जीवों को इस लोक और परलोक संबंधी सभी सुखों का दान देता है। ज्ञानदान के प्रभाव से जीव सर्वज्ञ बनता है, वीतराग बनता है और क्रमशः मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

दूसरा अभयदान है। अभयदान की महिमा का भी कहाँ तक वर्णन किया जाय? संसार में प्राणियों को सब से अधिक प्रिय वस्तु अपने प्राण ही हैं। प्राणों से ज्यादा प्रिय अन्य कोई वस्तु नहीं है। अतः प्राणदान देना सब से प्रिय वस्तु का दान देना है। कहा भी है:—

इच्छन्ति सव्वजीवा, निब्भरदुहिया वि जीविउं जम्हा।
तम्हा तं चेव पियं, तेसिं कुसलेण विन्नेयं॥
जम्हा य नरवरिन्दो, मरणम्मि उवट्ठियम्मि रज्जं पि।
देइ सजीवियहेउं, तम्हा तं चेव इट्ठपरं॥
दायव्वं च मइमया, ज इट्ठं होइ गाहगाणं तु।
तं दाणं परलोए, सुहमिच्छन्तेण सुविसालं॥
दीहाऊ य सुरूवो, नीरोगो होइ अभयदाणेण।
जम्मन्तरे वि जीवो, सयलजणसलाहणिज्जो य॥
एयं तु अभयदाणं, तियसिन्दनरिन्दनमियचलणेहिं।
सावय! जिणेहि भणियं, दुज्जयकम्मट्ठदलणेहि॥

अर्थात्—सब जीव अत्यन्त दुःखित अवस्था में भी जीवित रहने की ही इच्छा करते हैं, अतएव विवेकशील जनों को समझना चाहिए कि उन्हें जीवन ही सब से अधिक प्रिय है।

सम्राट् मृत्यु उपस्थित होने पर अपना समस्त साम्राज्य दान करके भी मृत्यु से बचने और जीवित रहने की अभिलाषा करता है। इस बात से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसे साम्राज्य और जीवन में से जीवन ही अधिक प्रिय है।

जो बुद्धिमान् मनुष्य परलोक में सुख पाने की इच्छा करता है, उसे अन्य प्राणियों को वही दान खूब देना चाहिए जो ग्राहक को—दान लेने वाले को—इष्ट हो। सभी ग्राहकों को

जीवन सब से अधिक इष्ट है, अतः जीवनदान या अभयदान अवश्य देना चाहिए।

अभयदान के प्रभाव से परलोक में भी जीवों को दीर्घ आयु, सुन्दर रूप एवं नीरोगता की प्राप्ति होती है और वह सब की प्रशंसा का पात्र बनता है।

हे श्रावक! देवेन्द्रों और नरेन्द्रों के द्वारा जिनके चरणों में नमस्कार किया जाता है, जिन्होंने दुर्जय आठ कर्मों को विनष्ट कर दिया है, उन जिनेन्द्र देव ने अभयदान का उपदेश दिया है।

तीसरा दान धर्मोपकरणों का दान है। इस दान की भी बड़ी महिमा है। इसके विषय में भी कहा है:—

तं पुण असणं पाणं, वत्थं पत्त च भेसयं जोग्गं।
दायव्वं तु मइमया, तहेव सयणासणं पवरं॥
दायव्व पुण सज्झायझाणनिरयस्स निरुवगारिस्स।
जो सयमतवभारं, वहइ सया तेणुवग्गहिओ॥

अर्थात्—बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह उचित अशन, पान, वस्त्र, पात्र और औषध तथा शय्या (उपाश्रय-स्थानक) और आसन आदि का दान करे। जो स्वाध्याय और ध्यान में निरत रहते हैं, और जो निरुपकारी हैं, वे यह दान प्राप्त करके सदा सयम और तप के भार को वहन करते हैं। उन्हें यह उपकरण न मिलें तो वे संयम और तप की साधना

भलीभांति नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार धर्मोपकरणों का दान करना एक प्रकार से उन्हें स्वाध्याय और ध्यान में सहायता पहुँचाना है।

इसी प्रकार श्रावक को शीलधर्म की भी आराधना करनी चाहिए। शील का अर्थ सदाचार है। हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रह का त्याग करना तथा क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह करना शील है।

तीसरा तपधर्म दो प्रकार का है—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। अनशन आदि बाह्य तपों का और प्रायश्चित्त, विनय आदि आन्तरिक तपों का यथाशक्ति आराधन करना सुख की प्राप्ति और दुःखों के क्षय का प्रधान कारण है।

चौथा भावनामय धर्म है। इसका स्वरूप इस प्रकार है।

सम्मं सम्मदंसण-नाण-चरित्ताण भावणा जाओ।
वेरग्गभावणा वि य परमा तित्थयरभत्ती य॥
संसार जुगुच्छणया. कामविरागो सुसाहुजणसेवा।
तित्थयरभासियस्स य धम्मस्स पभावणा तह य॥
मोक्खसुहम्मि य राओ, अणाययणवज्जणा य सुपसत्था।
सइ अप्पणो य निन्दा, गरहा य कहिंचि खलियस्स॥
एसो जिणेहि भणिओ, अणन्तनाणीहि भावणामइओ।
धम्मो उ भीमभववणसुजलियदावाणलब्भूओ॥

अर्थात् सम्यक् प्रकार से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र

की भावनाएँ करना, वैराग्यभावना धारण करना, तीर्थंकर भगवान् की उत्कृष्ट भक्ति करना, संसार से जुगुप्सा करना, काम भोगों के प्रति विरक्ति का भाव रखना, सच्चे साधुजनों की सेवा करना, तीर्थंकर द्वारा कथित धर्म की प्रभावना करना, मोक्ष-सुख में अनुराग रखना, कुगुरु कुदेव कुधर्म आदि का त्याग करना; अपने से कहीं भूल हो जाय तो आत्मसाक्षी से निन्दा करना और गुरु के समीप जाकर गुरुसाक्षी से निन्दा करना, यह सब अनन्त ज्ञानी जिनवरों ने भावनामय धर्म कहा है। यह भावना-धर्म भयानक संसार रूपी अटवी को नष्ट करने के लिए प्रज्वलित दावानल के समान है। अर्थात् जन्म-मरण के दुःखों का अन्त करने वाला है।

चार प्रकार के इस धर्म का पालन करके ही अनन्त जीवों ने मुक्ति प्राप्त की है और भविष्य में भी वही जीव मुक्ति प्राप्त करेंगे जो इस धर्म का पालन करेंगे।

भव्य जीवो! पुण्य के उदय से आपको जो अनुकूल सामग्री प्राप्त हुई है, उसका आप सदुपयोग कर लें, यही बुद्धिमत्ता है, यही विवेकशीलता है और इसी में मनुष्य-पर्याय पाने की सार्थकता है।

इस आशय का केवली भगवान् का उपदेश श्रवण करके भव्य जन अत्यन्त प्रसन्न हुए। किसी ने व्रत धारण किये, किसी ने सम्यक्त्व अंगीकार किया और किसी ने अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान किये।

२७

वैराग्य का उद्भव

धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् जिनदास के अन्तः करण में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उन्होंने विचार किया—'हमारा असीम सौभाग्य है कि इन महर्षि को इस परिषद् में केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। मैं केवली भगवान् के मुखारविन्द से अपना पूर्वभव का वृत्तान्त क्यों न पूछ लूँ ?'

जिनदास ने अपने मन में इस प्रकार का विचार किया ही था कि केवली ने उसका मनोगत भाव जान कर उत्तर देना आरम्भ कर दिया। उन्होंने नाम लिये बिना ही सामान्य रूप से कहाः—

भव्य जनो ! जीव अनादि काल से संसार में जन्म-मरण कर रहा है। परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं होता कि मैं पूर्वजन्म में क्या था और क्या कर्म करके इस जन्म में इस अवस्था को प्राप्त हुआ हूँ ? यदि उसे यह ज्ञात हो जाय तो वह बहुत कुछ बोध प्राप्त कर सकता है। इस संबंध में मैं एक घटना सुनाता हूँ।

यादृशं क्रियते कर्म, तादृशं भुज्यते फलम्।
यादृशमुप्यते बीजं, तादृशं प्राप्यते फलम्॥

अर्थात्—जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही उसका फल मिलता है। जैसा बीज बोया जाता है, वैसे ही फल की प्राप्ति होती है।

जीव अज्ञान के वशीभूत होकर, मूढ़ भाव से, सहज ही कर्मों का बंध कर लेता है; परन्तु जब वह कर्म उदय में आते है तो बहुत ही कष्ट भोगने पड़ते हैं। अन्तराय पाँच प्रकार के है-दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। अन्तराय का अर्थ है विघ्न डालना। जो जीव दूसरों के दान, लाभ आदि में विघ्न डालता है, उसकी कैसी दशा होती है यह बात मैं एक उदाहरण से समझाता हूँ।

वाणिज्यग्राम नामक नगर में पिशुनजय नामक एक राजा था। वह राजा राजोचित सभी गुणों से अलंकृत था। उस नगर में बड़े-बड़े व्यापारी निवास करते थे। वह व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। इसी कारण उस नगर का नाम 'वाणिज्यग्राम' प्रसिद्ध हो गया था।

वाणिज्यग्राम में वसुधर नामक एक व्यापारी सेठ थे। वह वहाँ के अग्रगण्य व्यापारियों में गिने जाते थे। सम्पत्ति की उनके यहाँ कमी नहीं थी। भरपूर वैभव था। सब प्रकार की सुख सामग्री थी।

वसुधर सेठ दृढ़ श्रद्धावान् श्रमणोपासक थे। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वे समुचित धर्म की आराधना करते थे। निर्ग्रन्थप्रवचन में कोविद थे। न्याय नीति से ही धनोपार्जन करते थे। स्वयं धर्म का पालन करने के साथ वह दूसरों को भी धर्मपालन में सहायता देते रहते थे। स्वधर्मी जनों की सेवा-सहायता करने में वह कभी भी पश्चात्पद नहीं रहते थे।

एक बार उनकी दुकान का सब माल बिक गया। नया माल खरीदने की आवश्यकता हुई। वैसे तो वसुधर कभी माल लेने स्वयं नहीं जाते थे, परन्तु अब की बार उनके मन में विदेशयात्रा की इच्छा जागी। उन्होंने अन्यान्य व्यापारियों से यह बात कही तो वे भी साथ चलने को तैयार हो गए। प्रस्थान की तिथि निश्चित हो गई।

वसुधर यशोधर आदि आठ सेठ मिल कर चलने को तैयार हुए थे। गाड़ियाँ तैयार की गईं। भोजन-सामग्री तथा आवश्यक बरतन आदि सब चीजें साथ ले ली गईं। यथासमय सब लोग व्यापार-यात्रा के लिए चल दिये। रास्ते में जगह-जगह मुकाम करना पड़ता था। जहाँ जहाँ मुकाम होता वहाँ आवश्यक कार्यों से निवृत होकर सेठ वसुधर अपने साथियों को धर्म का उपदेश देने लगते। वसुधर के अतिरिक्त यशोधर धर्म की महिमा को जानता था। उसके मन में धर्म ठस गया। उसने सच्चे देव, गुरु और धर्म का स्वरूप समझ कर उन पर दृढ़ श्रद्धा धारण कर ली। किन्तु शेष छह साथी इनसे विलक्षण थे। वे वसुधर के उपदेश को उपहास करके ही टाल देते थे।

अत्यन्त भारी कर्मों के उदय से उन्हें धर्म के प्रति लेश मात्र भी प्रीति उत्पन्न नहीं होती थी। यही नहीं, वे लोग परोक्ष में वसुधर सेठ की निन्दा करते और कहते—इसका धर्म बड़ा ही संकीर्ण है! जब देखो तभी धर्म-धर्म चिल्लाया करता है! ऐसा सुन्दर शरीर मिला है, सो इसका अधिक से अधिक उपयोग करके आनन्द भोग लेना तो दूर रहा; उलटे तप करके सुखा डालने की बात कहता है! फिर भी वसुधर और यशोधर निराश नहीं हुए। वे शान्ति के साथ उन्हें अपना दृष्टिकोण समझाने का प्रयत्न करते ही रहते। मगर वे भी अपने विचार में पक्के थे। एक दिन बोले—सेठजी, आप लोगों की बात हमें नहीं रुचती। आप जो चाहें, करें किन्तु हमें धर्म का उपदेश न दिया करें।

यह उत्तर सुनकर दोनों मौन हो रहे। उन्होंने समझ लिया कि यह लोग तीव्र मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, अतएव इन्हें अमृत के समान मधुर धर्मोपदेश भी गरल के समान प्रतीत होता है। अतएव इन्हें न छेड़ना ही योग्य है। जैसा भवितव्य होगा, वैसा ही फल पावेंगे। क्योंकि—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।

अर्थात्—मूर्खों के लिए हित का उपदेश भी कोप का कारण बन जाता है; शान्ति का कारण नहीं बनता।

यह सोचकर वसुधर और यशोधर दोनों आपस में

धर्मचर्चा करते, धर्मक्रिया करते और यतनापूर्वक सब क्रियाएँ करते थे।

एक बार यह सब लोग चलते-चलते किसी वन में पहुँचे। सब ने सम्मिलित भोजन बनाया। वसुधर ने भोजन के कुछ पात्र धोये और धोवन का पानी एक थाली में रख दिया। जब भोजन की पूरी तरह तैयारी हो चुकी और वसुधर सेठ भोजन करने बैठे, तब श्रावकधर्म के अनुसार उन्होंने बारहवें व्रत-अतिथिसंविभाग की भावना की। वह विचार करने लगे – वह देश धन्य है, अति धन्य है, जहाँ मुनिराज विचरते हैं। वे श्रावक भी धन्य हैं जिन्हें उत्तम पात्र को दान देने का पुण्यमय प्रसंग प्राप्त होता है। आज मैं भाग्यहीन हूँ कि मुझे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है। इस वन्य प्रदेश में मुनिराज का समागम कहाँ है ? आज मुझे तारने वाला कौन है ? यहाँ सभी प्रकार का निरवद्य और प्रासुक भोजन-पानी तैयार है; किन्तु मेरे प्रबल अन्तराय कर्म का उदय है। मैं मुनि को कैसे आहार-दान दे सकता हूँ ?

इस प्रकार विचार करते-करते वसुधर सेठ के मन में ऐसी प्रबल भावना जागृत हुई कि वह भोजन करना भूल गये। उनके नेत्रों से आंसुओं की नदी बह चली।

भावना में अप्रतिहत सामर्थ्य है। भावना की दृढ़ता से ऐसे-ऐसे चमत्कार होते हैं कि साधारण जनों की कल्पना में भी नहीं आ सकते। यहाँ भी ऐसा ही चमत्कार हुआ। सेठ वसुधर मुनि को आहारदान देने की प्रबल भावना कर ही रहे

थे कि उन्हें अचानक ही एक जिनकल्पी मुनिराज दिखाई दिये। उस प्रदेश में यकायक मुनि के दर्शन होने से वसुधर के हर्ष की सीमा नहीं रही। उसने सोचा—अहा! मेरा भाग्य धन्य है। मेरी भावना फलवती हुई। मेरे प्रकृष्ट पुण्य के उदय से ही मुनिराज का यहाँ आविर्भाव हुआ है।

इस प्रकार विचार कर वसुधर को अत्यन्त प्रमोद हुआ। जैसे मेघगर्जना सुन कर मयूर नृत्य करने लगता है, उसी प्रकार वसुधर का मन-मयूर भी हर्ष से नाच उठा। अब उसकी आँखों में हर्ष के आँसू छलक आए थे।

ईर्यापथ शोधते हुए मुनिराज उसी ओर आए जिस ओर वसुधर सेठ थे। वसुधर सेठ मुनिराज के सामने गये और समीप पहुँच कर उनके चरणों का स्पर्श किया और पंचांग नमा कर नमस्कार किया। यशोधर ने भी इसी तरह वन्दन-नमस्कार किया। उसका हृदय भी प्रमोद से गद्‌गद हो गया। वह बोले—आज हमारे धन्य भाग हैं, जो इस जनशून्य जगल में हमारे मनोरथ सफल हुए। अनायास ही हमें कल्पतरु की प्राप्ति हुई।

तत्पश्चात् दोनों ने मुनिराज को भोजन के लिए आमन्त्रित किया। मुनिराज भी भोजन ग्रहण करने के अभिप्राय से भोजन-सामग्री के समीप पहुँचे।

वसुधर और यशोधर के अतिरिक्त छह सेठ दूर बैठे-बैठे यह दृश्य देखते रहे। वे धर्म के द्वेषी थे, अतएव मुनि के समीप भी नहीं गए। यहाँ तक तो गनीमत थी, परन्तु जब महामुनि

आहार लेने को तत्पर हुए तो उन्हें यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने शिष्टता को भी ताक पर रख दिया। वे बोले-'अजी, किस भिखारी को चौके के समीप ला रहे हो ? क्या सारा ही चौका बिगाड़ देने का इरादा है ?'

यह शब्द सुन कर मुनिवर वापिस लौट गए। सम्मिलित बने हुए भोजन में से अगर कोई भागीदार आहार देने का अनिच्छुक हो तो मुनि को आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है। इसी विचार से मुनि तत्काल लौट पड़े।

यह घटना देख कर वसुधर और यशोधर को अत्यन्त दुःख हुआ। उन्होंने मुनि के चरणों में गिर कर और उन्हें रोक कर कहा—गुरुदेव ! यह छहों जीव अज्ञानी हैं। इन्हें धर्म का लेश मात्र भी बोध नहीं है। दीनबन्धो ! इनके कहने से हमें व्यथा मत पहुँचाइए। आप भोजन ग्रहण किये बिना लौट जाएँगे तो हम लोगों को घोर दुःख होगा। महान् पुण्ययोग से मरुस्थल में कमल खिला है। हम आपको आहार दिये बिना नहीं जाने देंगे। हाँ, आप अपने कल्प के अनुसार ही आहार ग्रहण कीजिएगा। पर थोड़ी देर विश्राम कीजिए।

धर्म प्रेमी श्रावकों का अत्याग्रह देख और उनके चित्त को आघात लगता जान मुनि थोड़ी देर के लिए रुक गए।

तत्पश्चात् यशोधर को मुनिवर के समीप छोड़ कर वसुधर अपने उन छह मित्रों के पास आया। उसने अत्यन्त नम्रता और विनय के साथ उन्हें समझाने का प्रयत्न किया। कहा—भाइयो !

आज तुमने यह क्या अनर्थ कर दिया ? अगर आपको धर्म-श्रद्धा नहीं है तो भी कम से कम लोक-व्यवहार के अनुसार शिष्टता का प्रदर्शन तो करना ही चाहिए। आपके व्यवहार से हमें अत्यन्त व्यथा पहुंची है। देखो, अनन्त पुण्य के उदय से निर्जन वन में अकस्मात् यह शुभ संयोग प्राप्त हो गया है। उत्तम पात्र को दान देने का यह अपूर्व अवसर है। इसे हाथ से मत जाने दो। यह कोई साधारण महात्मा नहीं हैं। राग-द्वेष के विजेता हैं। उग्र तपस्वी और महाव्रतों के धारक हैं। अपने तन पर भी इन्हें ममता नहीं है। भिक्षा के लाभ और अलाभ में इनका समभाव है। भिक्षा नहीं मिलने पर तपस्या समझ कर वे सन्तुष्ट रहते हैं। भिक्षा का लाभ होता है तो अनासक्त भाव से निरवद्य भिक्षा लेते हैं। हम लोगों ने अपने निमित्त रसोई तैयार की है। उसमें से थोड़ी-सी यह महात्मा ग्रहण कर लेंगे तो हम लोग भूखे नहीं रह जाएँगे। हम अनन्त पुण्य के पात्र बन जाएँगे। अतएव मेरा अनुरोध है कि इस लाभ को मत गँवाओ। सौभाग्य से मुनिराज अभी यहीं हैं।

इस प्रकार वसुधर के बहुत समझाने पर भी वे लोग टस से मस नहीं हुए। वास्तव में उनके प्रबल पापकर्म का उदय था, अतएव उनकी मति विपरीत हो रही थी। जब वह किसी भी प्रकार मुनि को आहार देने के लिए तैयार न हुए तो विवश होकर वसुधर ने कहा—अच्छा, हम दोनों की पाति का आहार अलग कर दीजिए। फिर हमारी जो इच्छा होगी, वही करेंगे। आपके साथ हमारा कोई सरोकार नहीं रह जाएगा।

छहों साथी वसुधर और यशोधर का हिस्सा देने को तैयार हो गए। उन्होंने दोनों के हिस्से का चौथाई भोजन अलग निकाल दिया। धोवन पानी तैयार था ही। तब वसुधर ने मुनिराज के पास आकर प्रार्थना की—भगवन् ! पधारिए, मेरा उद्धार कीजिए। गृहस्थों की बातों पर ध्यान न दीजिएगा। धोवन-पानी और आहार तैयार है, आप अपने कल्प के अनुसार ग्रहण कीजिए।

मुनीन्द्र ने निर्दोष आहार-पानी ग्रहण किया। दाता, देय और पात्र—तीनों की उत्तमता के कारण दान में भी उत्तमता आ जाती है। दाता उदार एवं उन्नत चित्त से दान दे रहा हो, दान ग्रहण करने वाला पात्र अनासक्त भाव से, संयम की सिद्धि के उद्देश्य से ले रहा हो और देने योग्य वस्तु भी विशुद्ध अर्थात् निर्दोष हो तो वह दान उत्कृष्ट बन जाता है। यहाँ तीनों का ऐसा सुन्दर योग मिला था। अतएव वसुधर और यशोधर ने दान के प्रभाव से महान् फल की प्राप्ति की। उनका संसार परीत हो गया। उन्होंने दान क्या दिया, भविष्य के लिए बहुमूल्य पूंजी संचित कर ली।

शेष छह साथी आपस में इन दोनों की निन्दा करने लगे; परन्तु इन्होंने उनके कथन पर कान नहीं दिया। वे जानते थे कि मिथ्यात्व की मदिरा के प्रभाव से इनकी मति विपरीत हो रही है।

भोजन आदि से निवृत्त होकर वे आगे चले। चलते-चलते वेणातट नामक नगर में पहुँचे। वसुधर और यशोधर

समझ गये थे कि इनके साथ हमारी पटरी नहीं बैठ सकती। जिनके विचार और व्यवहार परस्पर विपरीत होते हैं, उनका साथ निभ नहीं सकता। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' अर्थात् मित्रता समान शील एवं आदत वालों में ही हो सकती है। यह समझ कर दोनों उनसे अलग हो गए। उन्होंने अपना व्यापार भी अलग ही आरंभ किया। वसुधर और यशोधर की भावना धर्मोपेत थी और उनकी विचारधारा भी मिलती-जुलती थी। दोनों न्याय-नीतिपूर्वक व्यापार और साथ ही धर्मक्रिया करने लगे। उन्हें व्यापार में अपार लाभ हुआ। फिर भी उनके चित्त में समभाव था।

वसुधर के छह साथी अलग व्यापार करने लगे। किन्तु पाप के योग से उन्हें व्यापार में कुछ भी लाभ नही हुआ। यही नहीं, वे अपनी मूल पूंजी भी गँवा बैठे। ऐसी स्थिति में भी धर्म को जानने वाला तो कर्म का उदय समझ कर सन्तोष धारण कर सकता है, परन्तु अधर्मी जीव आर्त्तध्यान के वशीभूत होकर अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है। ये छहों व्यापारी मन ही मन अत्यन्त दुःखित थे, परन्तु लज्जा के कारण वसुधर और यशोधर से कुछ कहते भी नहीं थे। परन्तु वसुधर की तीखी निगाह से उनकी हालत छिपी न रह सकी। उसे करुणा आ गई। एक दिन उसने इन्हें बुलाकर समझाया—भाइयो! यद्यपि मैंने मतभेद के कारण आपसे अपना संबंध-विच्छेद कर लिया है, तथापि आपके प्रति मेरे चित्त में लेश मात्र भी द्वेष नहीं है। मैं आपको चेतावनी देना चाहता हूँ कि आप धर्म की आराधना कीजिए। धर्माराधना ही सुख का

एक मात्र कारण है। धर्म के विना कभी किसी को सुख मिल ही नहीं सकता। अतः आप लोग अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार धर्म का पालन कीजिए। इसी में आपका कल्याण है।

धर्म का प्रत्यक्ष फल देख कर छहों सेठ अपना काम निकालने के अभिप्राय से वसुधर के कहे अनुसार व्यवहार करने लगे। दिखावटी तौर पर वे सामायिक-प्रतिक्रमण आदि क्रिया भी करने लगे। इन छह में तीन जन विशेष कपटी थे। वे लेन-देन में कपट करते थे और दूसरों पर अपना भेद प्रकट नहीं होने देते थे। यशोधर उनकी यह प्रवृत्ति देखकर चिढ़ता था। उसे यह व्यवहार सह्य नहीं होता था। अतएव वह 'सेर को सवा सेर' की कहावत चरितार्थ करता था। इस प्रकार मायाचार करने के कारण चारों ने स्त्री गोत्र का उपार्जन कर लिया।

यथासमय छहों जीव काल करके देवगति में उत्पन्न हुए, किन्तु उनमें अपनी-अपनी करणी के अनुसार उच्चता-नीचता थी। उनकी आयु में भी किंचित् अन्तर था। देवगति की स्थिति पूरी करके पहले तीन प्राणी महेन्द्रपुर में सोहन शाह के घर में पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। पूर्वभव में उन्होंने आहारदान में अंतराय दिया था, उसके प्रभाव से उनके जन्म लेते ही सोहन शाह का समस्त वैभव नष्ट हो गया। ये और उनके योग से उनके माता पिता भी अत्यन्त दुःख में पड़ गए। बाद में वसुधर सेठ का जीव भी उसी परिवार में उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'जिनदास' रक्खा गया। जिन चार जीवों ने कपट करके नारीगोत्र का उपार्जन किया था, उनमें से तीन देवगति से च्युत होकर

आनड़, जावड़ और खावड़ की पत्नी हुए हैं। यशोधर ने उसी नगर में नगरसेठ के घर कन्या के रूप में जन्म लिया और पूर्व-भव की प्रीति के प्रभाव से जिनदास का वरण किया। दान के प्रभाव से उसे भी सब प्रकार की सुख-सामग्री प्राप्त हुई।

इस कथा का सार यही है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार दान देना चाहिए। मनुष्य को जो कुछ भी इष्ट वस्तु प्राप्त है, वह सब पुण्य का ही प्रताप है। जो लोग पुण्य के फल से प्राप्त सामग्री को भोगते हैं, परन्तु आगे पुण्योपार्जन करने में उसका व्यय नहीं करते, उनकी वही दशा होती है जो पास की पूंजी उड़ा देने वाले और नवीन न कमाने वाले वणिक् की होती है। वह वर्त्तमान को ही देखता है, भविष्य का किंचित् भी विचार नहीं करता। ऐसा मनुष्य पशु के समान विवेकहीन जीवन यापन करता है। वह अपने भविष्य को दुःखमय बनाता है।

मनुष्य की विशेषता भविष्य के सुख की ओर लक्ष्य रखने में ही है। वर्तमान के सुख का परित्याग अगर नहीं किया जा सकता तो भी भविष्य के सुख के लिए यथाशक्ति दान देने में तो कोई कष्ट नहीं होता है। अतएव मननशील मनुष्य को दानधर्म आदि का अवश्य पालन करना चाहिए। कदाचित् कोई दान न दे सके तो कम से कम उसे दूसरे द्वारा दिये जाने वाले दान में अन्तराय तो डालना ही नहीं चाहिए। दान में अन्तराय डालने का फल अतिशय कटुक होता है। यह निरर्थक पाप है। अतएव इससे तो सब को बचना ही चाहिए।

जिनदास आदि आठों तथा व्याख्यान-परिषद् में उपस्थित अन्य सभी श्रोता यह वृत्तान्त सुन कर अतीव सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए। पुण्य और पाप का प्रत्यक्ष फल देख कर सब के चित्त में धर्म के प्रति अनुराग जागृत हुआ। सभी को प्रतीति हुई।

जिनदास के मन में बड़ा चमत्कार हुआ कि अन्तर्यामी केवली भगवान् ने विना प्रश्न किये ही मेरे प्रश्न का उत्तर दे दिया। फिर उसने विचार किया—इसमें आश्चर्य ही क्या है? केवली भगवान् से किसी भी जीव का कोई भी भाव छिपा नहीं रह सकता। वे घट-घट को जानते हैं।

इस प्रकार विचार करके जिनदास ने केवली महाराज को वन्दना की और फिर नम्रता के साथ कहा—तरण तारण प्रभो! आपके वचन प्रशस्त हैं, सत्य है, तथ्य हैं, असंदिग्ध हैं। उनमें न न्यूनता है, न अधिकता है। वे सद्भाव के प्रकाशक हैं। कल्याणकारी हैं। मैंने उन वचनों पर श्रद्धा की है प्रतीति की है। अब उनकी स्पर्शना करने की मेरे अन्तर में अभिलाषा उत्पन्न हुई है। मैं भव रूपी अटवी में पर्यटन करता-करता ऊब गया हूँ। अब इससे छुटकारा चाहता हूँ। नाथ! इससे छुटकारा पाने के लिए आपके चरण-कमलों का चंचरीक बनना चाहता हूँ। आपके चरण रूपी यान का सहारा लेकर संसार-सागर से पार पहुँचना चाहता हूँ। दीनानाथ! मुझ पर दया कीजिए। मुझे धर्म का आश्रय देकर कृतार्थ कीजिए। मेरा उद्धार कीजिए।

केवली ने कहा—'जहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।'

अर्थात्—हे देवों के प्यारे ! जिसमें तुम्हें सुख उपजे, उस कार्य को करने में विलम्ब न करो।

केवली भगवान् आगे बोले-भव्य ! जीवन का कोई भरोसा नहीं है। आयु किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है। जीवन स्थिर रहते भी कब क्या विघ्न उपस्थित हो जायगा, इस शरीर की कब क्या दशा हो जायगी, यह भी किसे ज्ञात है? अतएव आत्मकल्याण का जो सुअवसर मिला है, इसे हाथ से जाने देना कोई चतुराई नहीं है। शीघ्र से शीघ्र इसका उपयोग कर लेना चाहिए। देखते हो, संसार में प्रतिदिन अनगिनती बालक, युवक और वृद्ध काल के उदर में समा रहे हैं। वे अपने संकल्प अपने साथ ही लिये जाते हैं। उनकी अभिलाषाएं उनके साथ ही मर जाती हैं। तुम उन्हें देख कर शिक्षा ग्रहण करो। यह न समझो कि दूसरे ही मरण-शरण होने वाले हैं और हम अमर होकर आये हैं। इस संसार का कोई भी प्राणी अमर नहीं है। अतएव बुद्धिमान् आत्मकल्याण के अभिलाषी को क्षण भर भी प्रमाद न करना चाहिए।'

सच है, संसार इतना निस्सार, दुःखमय और उद्वेग-जनक है कि कोई भी बुद्धिमान् पुरुष उसमें अनुराग नहीं धारण कर सकता। ठीक ही कहा है:—

अनित्ये सति मानुष्ये, विद्युत्स्फुरणचञ्चले।
ये रमन्ति नमस्तेभ्यः, साहसं किमतः परम्॥

अर्थात्—मनुष्यभव एकदम अनित्य है, विजली की चमक के समान एक क्षण है और दूसरे क्षण नहीं है। यह सब भली-भांति जानते हुए भी जो लोग इस संसार में—विषयभोगों में मस्त रहते हैं, वे धन्य हैं। उन्हें नमस्कार है। उनसे बढ़ कर साहसी और कौन हो सकता है!

आश्चर्य की वात तो यह है कि मनुष्य जीवन को अनित्य समझता हुआ भी और परलोक में फूटी कौड़ी भी साथ नहीं जा सकती, इस वात को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी पाप-कर्म करके धन आदि के उपार्जन में लगा रहता है और आत्मा के वास्तविक कल्याण की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता है। यह दशा देख कर ज्ञानी जन कहते हैं:—

सञ्चितं सञ्चितं द्रव्यं, नष्टं तव पुन पुनः।
कदाचिन्मोद्यसे मूढ! धनेहां धनकामुक!

अरे धन के लोभी! अरे मूढ़! अनादिकाल से अब तक तू ने अनन्त बार मनुष्य गति पाई है और प्रत्येक वार तू ने धन का संचय किया। मगर आज वह धन क्या तेरे पास रहा? नहीं। तू ने वार-वार संचय किया और वार-वार ही वह नष्ट हो गया। तो क्या तेरा यह विचार है कि अब की वार का संचित किया हुआ धन सदैव तेरे पास रहेगा? अगर ऐसा नहीं समझता तो तू कव अपनी धन-लोलुपता का परित्याग करेगा? तुझे कव समझ आएगी? कव तक मोह रूपी मदिरा के नशे में मस्त रहेगा?

जिनदास विवेकवान् श्रावक था। उसने गृहस्थावस्था में रहते हुए भी धर्म का मर्म पा लिया था और गृहस्थधर्म का पालन करते हुए साधुधर्म की आराधना की तैयारी कर ली थी। अतएव उधर पुत्र को समर्थ देख कर और इधर वैराग्य की जागृति होने से वह संयम धारण करने के लिए तैयार हो गया।

जिनदास ने कहा—प्रभो! लोक के आचार को सम्पन्न करके मैं शीघ्र लौटूँगा और दीक्षा धारण करूँगा।

यह कह कर जिनदास सपरिवार अपनी हवेली की ओर चला गया।

२८

दीक्षा और स्वर्गारोहण

जिनदास की आत्मा वैराग्य के गहरे रंग में डूब गई थी। दीक्षा के संकल्प मात्र से वह एक प्रकार का हल्कापन अनुभव कर रहे थे। श्रावक प्रतिदिन तीन मनोरथ किया करता है। उसमें एक मनोरथ यह भी है कि: —

कब आयगा वो दिन कि बनूं साधु विहारी।

अर्थात्—मेरे जीवन में वह पुण्यमय अवसर न जाने कब आएगा कि मैं जगत् के समस्त जंजाल त्याग कर अकिंचिन अनगार बनूँगा। अभी तक जगत् के पदार्थों को मैं अपना समझ रहा हूँ। यह मेरी दुर्बलता है। जिस दिन इन सचेतन-अचेतन पदार्थों को परकीय समझ कर त्याग दूंगा और अपनी शुद्ध आत्मा को ही अपनी समझ कर उसी में रमण करूँगा, वह दिन कितना धन्य होगा! आज मैं परावलम्बी हूँ, उस दिन सच्चा स्वावलम्बी बनूँगा।

जिनदास का आज यह मनोरथ सफल हो रहा था।

अतएव उसके मन में अत्यन्त प्रमोद था। हवेली में आते ही जिनदास ने अपने सब परिवार को एकत्र किया। आज सभी के हृदय हर्ष-विभोर हो रहे थे। जिनदास ने सब के समक्ष अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहा—'आप सब को ज्ञात ही है कि मैं ने अब सयम लेने का विचार कर लिया है। मैं आशा करता हूँ कि अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुन लेने के पश्चात् आप में से कोई भी मना नहीं करेगा।'

सुगुणी—'मैं आपके विचार का अनुमोदन करती हूँ। इस जीवन की चरम सार्थकता शाश्वत सिद्धि प्राप्त करने में ही है। मैं स्वय साध्वी होने का संकल्प कर चुकी हूं और आपकी आज्ञा प्राप्त करने का विचार कर रही था। गृहस्थी में आपके साथ रही हूँ। हम दोनों ने साथ-साथ ही गृहस्थ-जीवन के सुख-दुःख भोगे हैं। ऐसी स्थिति में सयम-जीवन में भी मैं आप से पीछे नहीं रह सकती। हम जोड़ी से सयम ग्रहण करेंगे।'

धन्य सुगुणी! धन्य है! ऐसे अवसर पर स्त्री अपनी स्वाभाविक कातरता के वशीभूत हो जाती है और आँसू बहाने लगती है। वह ममता अथवा स्वार्थ के चक्र में पड़ जाती है और अपने पति को कल्याण के पथ से विचलित करने का प्रयास करती है। मगर सच्ची अर्धाङ्गिनी का यह कार्य नहीं है। शास्त्र में पत्नी को 'धम्मसहाया' कहा है। अतएव सच्ची पत्नी वही है जो अपने पति के धर्म में सहायक हो। इसी अभिप्राय से हमारे यहाँ पत्नी को 'धर्मपत्नी' भी कहा जाता है। अपने

पति को भोगों के दलदल में फँसाने वाली और धर्म से विमुख करने वाली पत्नी सच्ची धर्मपत्नी नहीं कहला सकती। सुगुणी वास्तविक अर्थ में 'धम्मसहाया' थी। अतएव उसने स्वार्थ या भोगलिप्सा का विचार नहीं किया। गृहस्थी के विपुल भोग उसे लुभा न सके। उसने पति के दीक्षा लेने के विचार का सहर्ष अनुमोदन किया। यही नहीं, वह स्वयं भी पति की अनुगामिनी बनने को तैयार हो गई।

ऐसे धर्मशीला आदर्श रमणियों की बदौलत ही धर्म चमक सकता है। भोग के कीचड़ में फँसी रहने वाली, नाना प्रकार के नखरे करके पति के चित्त में विकार उत्पन्न करने वाली और अपने दाम्पत्य जीवन को सांसारिक सुख के निमित्त ही समझने वाली स्त्रियाँ मोह में पड़ी हैं, स्वार्थ में अन्धी हो रही हैं। उन्होंने दाम्पत्य जीवन के उच्चतर आदर्शों को समझा ही नहीं है। सुगुणी ऐसी स्त्रियों में नहीं थी।

सुगुणी का उत्तर सुनकर जिनदास को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

इसके पश्चात् जिनदास ने अपने भाइयों और भौजाइयों की ओर उन्मुख होकर कहा—'इतने दिनों तक मैं आपकी सेवा में रहा। अब आत्मा की आराधना करना चाहता हूँ। अभी तक मेरा परिवार सीमित था, अब वह विशाल बन रहा है। मैं प्रत्येक प्राणी का होऊँगा और प्रत्येक प्राणी मेरा आत्मीय होगा। तथापि मैं आपको दुविधा में नहीं डालना चाहता। यह हवेली और यह सब सम्पत्ति आपकी है। धर्मोदय

भी आपका ही है। आप उसके साथ प्रसन्नतापूर्वक यहाँ निवास करें। अगर आपकी इच्छा अलग रहने की हो तो मैं वैसी व्यवस्था कर दूं। आप जितना धन चाहें, खुशी से ले लें।'

जिनदास के यह शब्द सुनकर उसके भाइयों और भौजाइयों के नेत्र गीले हो गए। उन्होंने कहा—लालाजी! हम अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को भुगत चुके हैं। अगर इस अवसर पर भी न चेतें तो फिर कब चेतेंगे? अगर अब भी धर्मसाधना नहीं करेंगे तो आगे न जाने क्या दशा होगी! जब से हमने पूर्वभव का वृत्तान्त सुना है, तभी से संयम ग्रहण करने का संकल्प कर लिया है। अब हम किसी के कहने से भी रूकने वाले नहीं। हम भी दीक्षा धारण करके अपने पापों का क्षय करेंगे और सिद्धि प्राप्त करने का जतन करेंगे।

जिनदास को इस निश्चय पर क्या ऐतराज़ हो सकता था? उसने उनकी पवित्र भावना की सराहना की और कहा—आप सब का विचार उचित ही है। विवेकी जनों का यही सही कर्त्तव्य है।

तत्पश्चात् जिनदास ने अपने पुत्र धर्मोदय से कहा—वत्स! हम सब को दीक्षा अंगीकार करने की आज्ञा प्रदान करके अपूर्व लाभ लो।

अब तक जो बातचीत हो रही थी, उसे सुन कर धर्मोदय का चित्त उद्विग्न हो रहा था। यद्यपि वह अपने नाम के अनुसार धर्म का ज्ञाता और प्रेमी था, फिर भी एक साथ समस्त गुरु-

जनों के विछोह को सहन करना उसके लिए बहुत कठिन हो गया। वह बड़ी दुविधा एवं असमंजस में पड़ा था। उसे समझ में नहीं आता था कि इस अवसर पर वह क्या करे? एक ओर हृदय की ममता उमड़ रही थी और दूसरी ओर विवेक की प्रेरणा जाग रही थी। ऐसी दुविधा की स्थिति में जब जिनदास ने उसकी आज्ञा माँगी तो उसे गहरा आघात-सा लगा। उसके नेत्रों में आँसू भर आए। उसने कहा—आप सब एक ही साथ घर खाली करना चाहते हैं; किन्तु यह तो सोचिए कि मुझे किसका सहारा रहेगा? मैं अभी बालक हूँ और मुझे किसी का सहारा तो चाहिए ही!

जिनदास—वत्स! सदा से यही रीति चली आ रही है। एक आता है और चला जाता है। उसकी जगह दूसरा ले लेता है और जब वह भी चल देता है तो तीसरा उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। यही संसार-प्रवाह कहलाता है। यह प्रकृति का अटल विधान है। यहाँ कोई भी स्थिरवास नहीं कर सकता।

धर्मोदय—फिर भी मुझे निराधार न कीजिए!

जिनदास—जगत् में कोई किसी का आधार नहीं है, यही परमार्थ की बात है। लोग दूसरे को अपना आधार मानते हैं यह उनका भ्रम है। यही भ्रम उन्हें दुर्बल बनाता है और दूसरे अनर्थ उत्पन्न करता है। अतः वत्स! तुम दूसरे आधार की बात हृदय से निकाल दो। पूर्वोपार्जित पुण्य ही तुम्हारा सब

से बड़ा आधार है। सत्य, शील, दया और दान का सहारा ग्रहण करो। परकीय आधार सच्चा आधार नहीं हो सकता। भगवान् ने कहा है:—

अप्पा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि ? ॥

—आचारांगसूत्र,

अर्थात्—हे आत्मन् ! तुम स्वयं ही तुम्हारे मित्र हो। दूसरे मित्र की कामना क्यों करते हो ?

तुम अब नादान नहीं हो। वस्तुस्थिति को समझते हो। अतएव भावुकता के अधीन न होकर अपने विवेक को ही जगाये रक्खो।

धर्मोदय ने सोचा—सब का संयम ग्रहण करने का उत्कृष्ट भाव है। ऐसी दशा में किसी को रोकने का हठ करना व्यर्थ होगा, उचित भी नहीं है। अतः अनमने भाव से उसने हाथ जोड़कर कहा—जैसे आप सब को सुख उपजे वैसा कीजिए। मैं नाहीं कैसे करूँ ?'

मगर यह शब्द कहते-कहते उसका हृदय भर आया। गला रुंध गया। वह आगे कुछ भी नहीं बोल सका।

इस प्रकार धर्मोदय की अनुमति पाकर सब को सन्तोष हुआ। तत्पश्चात् चार प्रकार की भोजन-सामग्री तैयार करवा कर जिनदास ने स्वधर्मी भाइयों को और ज्ञातिजनों को आमं-

त्रण दिया। सब का प्रेमपूर्वक भोजन आदि से सत्कार किया। भोजन कर चुकने के पश्चात् सब आमन्त्रित सज्जन एकत्र बैठे। जिनदास ने सब के सामने खड़े होकर नम्रता पूर्वक कहा—हम आठों ने संयम धारण करने का निश्चय किया है। हम मानव-जीवन के वास्तविक लाभ को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहते हैं। धर्मोदय अब हमारे स्थान पर है। आपकी जैसी कृपा हमारे ऊपर रही है, वैसी ही कृपा इस पर रखना। यह अभी नवयुवक है। आप सब अनुग्रह के भाव से इसे निभा लेना।

जिनदास का यह विनम्र निवेदन सुनकर सब की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। जिनदास सब के आधारभूत थे। सब के सुख-दुःख में समान भाव से काम आते थे। जब कभी किसी के सामने-कोई पेचीदा प्रश्न उपस्थित होता तो वह जिनदास के पास आता और वे आत्मीयता के भाव से उसे सुलझाते थे। सब को यथोचित परामर्श देते थे। वह सभी के पथप्रदर्शक, हितैषी और सहायक थे। अतएव इस अवसर पर सब का खेद होना स्वाभाविक ही था। परन्तु वे जिस श्रेयोमार्ग पर अग्रसर हो रहे थे, उससे रोकना न संभव ही था और न उचित ही था। अतएव सब लोग मन मसोस कर रह गए। उनमें जो सब से बड़े बुजुर्ग थे, वह बोले—आप धर्मोदय कुंवर के लिए अणु मात्र भी चिन्ता न कीजिए। वह बिलकुल आपके ही समान है। वे उलटी हमारी सार-सँभाल करेंगे। अब हमारे लिए वही आपके स्थान पर होंगे। भला, आप जैसे धर्मनिष्ठ श्रावक के सुपुत्र कितने योग्य न होंगे?
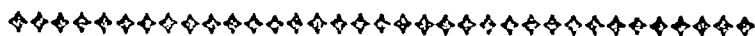
सब लोग जिनदास की उत्कृष्ट भावना देख धन्य-धन्य करने लगे।

इसके पश्चात् दीक्षा-उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। धर्मोदय अपने माता-पिता के असीम उपकारों का विचार करके, उनके प्रति अपना अन्तिम कर्त्तव्य बजाना चाहते थे। अतएव उन्होंने धूमधाम से दीक्षा-उत्सव करने का निश्चय किया। भावी मुनियों और आर्यिकाओं के लिए प्रचुर पारितोषिक देकर ओघा और पात्र मँगवा लिये गये। पालकियाँ सुसज्जित की गईं। सहस्रों नर-नारी इस दृश्य को देखने के लिए जिनदास की हवेली के सामने जमा हो गए।

यथासमय सब परिवार शिविकाओं पर सवार हुआ और शिविकाएँ उसी उद्यान की ओर चल पड़ीं, जहाँ मुनिराज विराजमान थे। उद्यान के समीप पहुँचते ही सब शिविकाओं से नीचे उतर पड़े। पैदल चल कर मुनिराज के पास पहुंचे। सब ने विधिपूर्वक नमस्कार किया। तदनन्तर ईशान कोण में आकर सब वैरागियों ने अपने-अपने आभूषण उतारे और पचमुष्टि लोच किया। पुरुषों ने सन्तों का और नारियों ने आर्यिकाओं का वेष धारण किया।

इस प्रकार संयममय जीवन की परिपूर्ण तैयारी करके सभी मुमुक्षु मुनीश्वर के समक्ष हाथ जोड़ कर खड़े हुए और बोले— तरणतारण ! अनुग्रह करके हमारा उद्धार कीजिए।'

मुनीश्वर ने परिवार की आज्ञा से सब को आर्हती दीक्षा
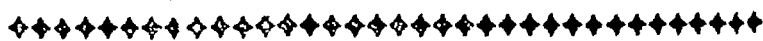
देकर उनके जीवन में महान् परिवर्त्तन कर दिया। नवदीक्षित मुनि, मुनिमण्डली में जाकर बैठ गये और आर्याएँ आर्याओं के बीच जाकर विराजमान हो गईं।

उनके परिवार के लोग सभी मुनियों-आर्यिकाओं को वन्दना करके और शक्ति के अनुसार त्याग-प्रत्याख्यान अंगीकार करके रवाना हुए। मगर सब के हृदय बहुत भारी थे। जिनदास और सुगुणीदेवी के असाधारण उत्तम गुणों का स्मरण कर-करके उनके मन में गहरी वेदना होने लगी। परिवार के लोग समझने लगे कि आज हमारा परिवार उजड़ गया है। नगर-निवासी मानने लगे कि आज हमारे नगर की शोभा चली गई। नगर श्रीविहीन और ऊजड़ हो गया। सब के मन उदास और अशान्त थे। सब गहरी आहें भर रहे थे। कोई किसी से विशेष बातचीत नहीं कर रहा था। वातावरण में औदासीन्यमयी गम्भीरता व्याप्त थी।

सभी लोग लौट कर अपने-अपने घर आये। आज नगर में सर्वत्र जिनदास आदि की दीक्षा ही चर्चा का मुख्य विषय था। सभी जगह, सभी लोग उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। इतने विराट वैभव और अतुल धन का त्याग कर देना कोई साधारण बात नहीं थी। लोग कह रहे थे-धन्य हैं जिनदासजी, जिन्होंने समस्त विभूति को मिट्टी के ढेले के समान समझा और आत्म कल्याण को सर्वोपरि मान कर भिक्षु-जीवन अंगीकार किया!

इधर जिनदास आदि मुनियों ने तथा सतियों ने गुरु की

विनय भक्ति-पूर्वक ज्ञान का अभ्यास आरंभ किया। उन्होंने आसेविनी और ग्रहणी शिक्षा सीखी। आठों त्यागी अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान प्राप्त कर चुकने के पश्चात् तपस्या करने में दत्तचित्त हुए। संघ ने अपने उच्च ज्ञान और उत्कृष्ट तपश्चरण आदि के प्रभाव से जिनशासन की प्रभावना की और अपने संसर्ग मे आये हुए अनेक भव्य प्राणियों का उद्धार किया। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र की आराधना करते हुए वे जगत् को भी उपकृत करने लगे।

कुछ समय के पश्चात् जिनदास मुनि का जब अन्तिम समय सन्निकट आया तो उन्होंने संलेखना व्रत को अंगीकार किया। अनशन आरंभ कर दिया। अन्त में समभाव पूर्वक पण्डितमरण से देह का त्याग करके वे विजय नामक अनुत्तर-विमान में उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार महासती सुगुणी का जीव देह त्याग कर और नारीलिंग का छेदन करके अच्युत विमान में देव रूप से उत्पन्न हुआ।

अन्य मुनियों और महासतियों ने भी अपनी-अपनी करणी के अनुसार देवगति प्राप्त की।

यह सभी जीव थोड़े भवों के अन्तर से मुक्ति प्राप्त करेंगे।

उपसंहार

धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलं,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशोविद्यार्थसम्पत्तयः।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते,
धर्मः सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रदः॥

अर्थात्—धर्म के प्रभाव से सुकुल में जन्म होता है, नीरोग और परिपूर्ण इन्द्रियों वाले शरीर की प्राप्ति होती है, सौभाग्य, दीर्घायु तथा बल का लाभ होता है। धर्म के ही प्रताप से निष्कलंक कीर्त्ति, विद्या तथा धन-सम्पत्ति मिलती है। धर्म-प्राणियों को भयानक से भयानक जंगल मे भी बचाता है और बड़े से बड़े भय से भी रक्षा करता है। जो विवेक के साथ धर्म की सम्यक् प्रकार से उपासना करते हैं, उनके लिए धर्म स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) दाता होता है।

यहाँ धर्म का जो प्रभाव बतलाया गया है, उससे स्पष्ट है कि एक मात्र धर्म ही प्राणियों को लौकिक और लोकोत्तर

सुख देने वाला है। धर्म से ही दुःख, दारिद्रय और दुर्गति दूर होती है। धर्म के आचरण से मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल एव निष्कलुष बनता है और ऐसे अन्तःकरण रूपी क्षेत्र में ही सुखों के अंकुर उगते हैं। अतएव जो प्राणी अपने इहलोक और परलोक को सुधारने का इच्छुक है, जो सांसारिक क्लेशों से सदा के लिए छुटकारा चाहता है, जो अक्षय अखण्ड, अनन्त एवं असीम शान्ति को प्राप्त करने का इच्छुक है, उसे एकाग्र भाव से धर्म की आराधना करनी चाहिए।

यहाँ महापुरुष जिनदास की और पुण्यप्रतिमा सुगुणी की जो कथा लिखी गई है, वह मनोरंजन के हेतु नहीं है। जिनदास और सुगुणी का आदर्श चरित श्रावकों और श्राविकाओं के लिए पथप्रदर्शक है। ध्यानपूर्वक उनके चरित पर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि ऊपर उद्धृत श्लोक में धर्म की जो महिमा दिखलाई गई है, वह इनके चरित में पूरी तरह घटित होती है। अतएव यह चरित धर्म की महिमा का परिचायक है। इसे पढ़-सुन कर पाठक और श्रोता अपने कर्त्तव्य को पहचानें, श्रावकाचारधर्म और मुनिधर्म की झांकी पा सकें, यही इस चरित का उद्देश्य है। इस कथा से पाठकों को जो प्रेरणा प्राप्त होती है, उसे संक्षेप में, इस प्रकार कहा जा सकता है:—

(१) जिस प्रकार सोहन शाह ने सद्गुरु के सत्सग से अपनी विपत्ति पर विजय प्राप्त की और अपनी दरिद्रता का निवारण करने का मार्ग पाया, उसी प्रकार सभी को सत्संगति

करनी चाहिए। जो ऐसा करेंगे, उन्हें अविचल सुख की प्राप्ति होगी।

(२) इस कथा में श्रीपति सेठ का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनका परिवार गृहस्थों के लिए आदर्श है। गृहस्थी के मुखिया के लिए तो वह और भी अधिक बोधदायक है। परिवार के मुखिया को स्वय किस प्रकार का होना चाहिए और अपने परिवार में किस तरह का धार्मिक वायु-मण्डल निर्माण करना चाहिए, यह बात श्रीपति सेठ के चरित से स्पष्ट जानी जा सकती है। स्वयं नीति और धर्म का पालन करके तथा नियत समय पर सारे परिवार को एकत्र करके धर्मचर्चा करके उन्होंने परिवार के प्रत्येक सदस्य में धार्मिकता के बीज बो दिये। सुगुणी देवी के पवित्र जीवन का निर्माण उसी वातावरण में हुआ। जो गृहस्थ अपनी कन्या को यशस्विनी, पुण्यपरायणा, धर्मनिष्ठा, नीतिनिपुणा और श्रेष्ठ देखना चाहता है तथा अपने परिवार में सुख-शान्ति का संचार होता देखना चाहता है उसे श्रीपति सेठ के पदचिह्नों पर चलना चाहिए। मुखिया का कर्त्तव्य है कि वह अपने समग्र परिवार को सुधारने की भरसक चेष्टा करे।

(३) जिनदास धर्मसंस्कारहीन कुल में जन्म लेकर भी सन्मित्र की संगति से धर्म के मार्ग पर आ गया। उसके जीवनसुधार का आद्य कारण सच्चा मित्र था। यह घटना बतलाती है कि जीवन को बनाने और बिगाड़ने में मित्रों का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। अतएव मनुष्य को मित्र तो अवश्य

बनाने चाहिए, परन्तु बहुत सोच-समझ कर और परख कर ही बनाने चाहिए। अनाचारी मित्र की संगति मनुष्य के पतन का कारण बनती है और सदाचारी मित्र उत्थान का कारण बनता है। जिनदास को यदि धर्मनिष्ठ मित्र न मिला होता तो कौन कह सकता है कि उसकी क्या स्थिति होती? उसका झुकाव किस ओर को होता? वह अपने जीवन में जो उत्कर्ष प्राप्त कर सका, वह प्राप्त कर सकता या नहीं? सन्त जनों ने सन्मित्र का लक्षण इस प्रकार बतलाया है:—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

अर्थात्—जो मित्र अपने मित्र को पापाचरण से रोकता है, हितकर कार्य में लगाता है, जो अपने मित्र की छिपाने योग्य बात को छिपाता है और सद्गुणों को प्रकाश में लाता है, मित्र पर विपत्ति आने पर उसका परित्याग नहीं करता वरन् साथ देता है, समय पड़ने पर यथोचित सहयोग देता है, वह सच्चा सुमित्र है। ऐसा सत्पुरुषों का कथन है।

(४) सुगुणी का चरित कन्याओं, बहुओं और गृहस्वामिनियों के लिए अत्यन्त ही बोधप्रद है। सुगुणी बाल्यावस्था से ही धर्म के रङ्ग में रङ्गी हुई थी। धर्म उसे इतना प्यारा था कि उसने अपने पिता से स्पष्ट कह दिया कि आप मेरे विवाह

का विचार तो करते हैं, परन्तु मैं रूप की या धन की भूखी नहीं हूँ। मेरे लिए धर्म सर्वोपरि है। अतएव किसी अधर्मी वर के साथ मेरा सबंध नहीं होना चाहिए।

धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था न होती तो क्या एक बालिका लज्जा, संकोच और झिझक छोड़ कर अपने माता-पिता के सामने इस प्रकार की बात मुँह से निकाल सकती थी? धर्म की प्रखर प्रेरणा और प्रीति ने ही उससे यह कहलाया है। सुगुणी का यह उदाहरण बालिकाओं के लिए अनुकरणीय है। वे अधर्मी पति के साथ विवाह-संबंध करने से स्पष्ट इंकार कर दें तो माता-पिता भी ठीक राह पर आ सकते हैं। इसी प्रकार अनुचित सम्बन्ध के विरोध में भी उन्हें साहस से काम लेना चाहिए।

(५) दैवयोग से अधर्मी परिवार में विवाहित होकर रहने का प्रसंग आ जाय तो नारी का क्या कर्त्तव्य है, यह भी सुगुणी के चरित से विदित हो जाता है। सुगुणी ने किसी के साथ कलह नहीं किया, किसी से झगड़ा नहीं किया, सास-सुसर से अलग हो जाने का स्वप्न में भी विचार नहीं किया। अनेक असुविधाएँ सहन करके भी क्षमा, प्रेम और सन्तोष के साथ अपनी सासू को विनम्रता पूर्वक समझाया। आखिर उसे सफलता मिली। सुधार का यही सर्वोत्तम उपाय है। लड़ाई-झगड़ा करने से जो सफलता नहीं मिलती वह प्रेम और अहिंसा के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। लड़ाई-झगड़ा करना अपनी और दूसरों की शान्ति को नष्ट करना है। अतएव वहुओं का कर्त्तव्य है कि वे प्रेम और शान्ति के साथ परिवार को सुधारें।

(६) स्त्री को अपनी देवरानी-जिठानी के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, यह बात भी सुगुणी के चरित से सीखी जा सकती है। सुगुणी की जिठानियों ने उसे परेशान करने में कसर नहीं रक्खी; फिर भी सुगुणी ने उनके प्रति कभी दुर्भावना नहीं दिखलाई। यही नहीं, जब वे दुखी होकर उसके पास पहुँचीं तो उसने उन्हें प्रीति और आदर के साथ अपनाया। इस सद्भावना का जो सुफल हुआ, वह कथा से स्पष्ट है।

(७) धर्म को दृष्टि में रखकर गृहव्यवस्था की जाय तो बहुत से अनर्थ-दण्ड के पाप से बचाव हो सकता है। यह बात भी सुगुणी की जीवनी से सीखी जा सकती है।

(८) आज घर-घर में कलह मचा रहता है। लोग कहते हैं—दो स्त्रियाँ एक घर में प्रेमपूर्वक नहीं रह सकतीं। परन्तु आपस की फूट से क्या परिणाम आता है और पारस्परिक प्रेम, एकता एवं संगठन का क्या सुफल होता है, यह जानने के लिए यह कथा अतीव सहायक सिद्ध होगी।

(९) संकट धर्म की कसौटी है। संकट पड़ने पर जो धर्म का परित्याग नहीं करता, बल्कि संकट को टालने के लिए विशेष रूप से धर्म का आश्रय लेता है, वही वास्तव में धर्मात्मा है। वह सकुशल संकटों से पार हो जाता है। इस कथा के नायक दम्पती ने विपत्ति के समय तपस्या का आश्रय लिया, उसी प्रकार प्रत्येक धर्मप्रिय व्यक्ति को धर्म का आश्रय लेना

चाहिए। ऐसा करने से शीघ्र अशुभ कर्मों की निर्जरा हो जाती है और सभी क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

(१०) जैसे वैर-विरोध को विस्मृत करके जिनदास ने अपने परिवार का पालन-पोषण किया, उसी प्रकार प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह अपने भाइयों या दूसरे कुटुम्बियों की ओर से होने वाली ज्यादती को भूल कर भी उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित करे। भाइयों या अन्य संबंधियों को सन्मार्ग पर लाने का यह उत्तम उपाय है। कदाचित् वे सन्मार्ग पर न आवें तो भी अपने को इस सन्मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए। किसी को कुपथ में जाते देख अपने को कुपथ में नहीं जाना चाहिए।

(११) जैसे पूर्वभव में छह जीवों ने दान में अन्तराय डाला, उस प्रकार किसी को तुम अन्तराय न दो। देखो, एक बार आहार में अन्तराय देने से उन्हें कितना कष्ट भोगना पड़ा?

(१२) मीठी मांजी को भी नहीं भुलाया जा सकता। जिनदास और सुगुणी थके-मांदे जब उसके घर पहुँचे तो उसने प्रेम के साथ उन्हें ठहरने को स्थान दिया। इसी प्रकार तुम भी दूसरों को साता पहुँचाओ। जिनदास जब उसके घर से रवाना हुए तो एक बहुमूल्य रत्न उसके घर में पड़ा रह गया। मीठी मांजी चाहती तो उसे हज़म कर सकती थी, परन्तु उसने कितनी प्रामाणिकता प्रदर्शित की? क्षण भर के लिए भी उसके मन में पाप का उदय न हुआ। वह रत्न लेकर स्वयं उन्हें देने के लिए दौड़ी! इसी प्रकार किसी की गिरी हुई, भूली हुई या

रक्खी हुई कोई वस्तु मिल जाय और उसके स्वामी का पता लग जाय तो उसे वापिस लौटा देना चाहिए। स्वामी का पता न चले तो राज्य में जमा कराना चाहिए। यह श्रावक का कर्त्तव्य है।

(१३) कथा का अन्तिम सार यह है कि मनुष्य को गृहस्थी में रहते हुए, श्रावकधर्म का पालन करते हुए प्रतिदिन परिपूर्ण संयम का पालन करने की भावना रखनी चाहिए। जब पुत्र गार्हस्थ्य-भार उठाने में समर्थ हो जाय तो उसे गृहस्थी सँभला कर मुनि दीक्षा लेनी चाहिए और एकाग्र एवं निश्चिन्त भाव से श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म की आराधना करनी चाहिए।

मनुष्य को अपने जीवन का मूल्य समझना चाहिए। यह जीवन कीड़ों मकोड़ों की तरह मरने के लिए नहीं, अपितु शाश्वत कल्याण की प्राप्ति के लिए है। अतएव इसका सदुपयोग कर लेने में ही बुद्धिमत्ता है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह प्रतिदिन थोड़ा समय निकाल कर, शान्ति के साथ इस बात का विचार करे किः—

क्वासं क्व च गमिष्यामि, कश्चाहं किमिहागतः।
को बन्धुर्मम कस्याहमित्यात्मानं विचिन्तय ॥

अर्थात्—मैं पहले क्या था? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा! वास्तव में मैं कौन हूँ? किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैं यहाँ आया हूँ? इस संसार में कौन मेरा सहायक है?

मैं किसका हूँ ? इत्यादि प्रश्न करके अपनी आत्मा का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार के प्रश्न मनुष्य को वास्तविक दृष्टि प्रदान करते हैं। इनसे पता चल जाता है कि मनुष्य हाड़ मांस आदि से बना हुआ पुद्गलपिण्ड नहीं है। यहाँ उत्पन्न होकर यहीं नष्ट हो जाने वाला भी नहीं है। संसार में कोई किसी का सहायक नहीं है। अपने-अपने कर्मों का फल स्वयं को भुगतना पड़ता है। उसमें कोई साझीदार नहीं बन सकता। यह आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों से असंबद्ध शुद्ध चैतन्यमय है। कहा भी है:—

परमाह्लादसम्पन्नं, रागद्वेषविवर्जितम् ।
सोऽहं तु देहमध्यस्थो, यो जानाति स पण्डितः ॥
आकाररहितं शुद्धं, स्वस्वरूपे व्यवस्थितम् ।
सिद्धमष्ट गुणोपेतं, निर्विकारं निरञ्जनम् ॥
तत्समं तु निजात्मानं, यो जानाति स पण्डितः ॥

अर्थात्—शुद्ध आत्मा का स्वरूप परमानन्दमय है। आत्मा के स्वभाव में राग-द्वेष आदि औपाधिक भावों का लेश मात्र भी सम्पर्क नहीं है। आत्मा देह नहीं है, देह में स्थित है। ऐसे तत्त्व को जानने वाला ही वास्तव में पण्डित कहलाता है।

जैसे सिद्ध भगवान् हैं, वैसा ही मैं हूँ। सिद्ध में और मनुष्य में मूलतः भी अन्तर नहीं है। सिद्ध भगवान् आठ गुणों से सम्पन्न निर्विकार और निरंजन हैं, उसी प्रकार मेरी

आत्मा भी है। इस प्रकार समस्त कर्म जनित भावों के आवरण को दूर करके जो आत्मा के असली स्वभाव को जान लेता है, वही वास्तव में पण्डित है।

तात्पर्य यह है कि समस्त ज्ञान का सार अपने पारमार्थिक स्वरूप को जान लेना है। अतएव विवेकीजनों को यही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह ज्ञान निवृत्तिमय जीवन अंगीकार किये बिना कठिन है, अतः अन्त में अनगार बन कर आत्महित साधना चाहिए। जिस प्रकार जिनदास आदि ने संयम धर्म स्वीकार किया उसी प्रकार सब को करना चाहिए।

इस चरित का पठन-पाठन करके जो जीव इन तथ्यों पर विचार करेंगे, उनका परम कल्याण होगा। वे सिद्धि वधू के वल्लभ बन कर अक्षय सुख के भागी होंगे।

व्याधि से ग्रस्त हैं। बाहर निकलने में उन्हें संकोच होत
अतएव वे आजकल महल में ही रहते हैं।

वणिजारा—कोई उपचार नहीं हो रहा है ?

दीवान--सैंकड़ों उपचार किये गये, किन्तु कोई भी कार
गर नहीं हुआ।

वणिजारा--मैं महाराज के लिए एक औषध लाया हूँ

दीवान--ठीक है, आप स्वयं जाकर सेवा में उपस्थि
कीजिए।

प्रधान ने मुलाकात की व्यवस्था कर दी। वणिजारे
महाराज के पास जाकर यथोचित अभिवादन किया और सम
स्त उपहार उनके समक्ष प्रस्तुत किये। उसने अर्द्ध राजा व
प्रशंसा करते हुए चन्दन का मूठा भी दिया। उसे पाकर राज
को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। वणिजारे के कहने पर महाराज
ने चन्दन की दातौन की और उसी समय घिसवा कर अप
कुष्ठयुक्त शरीर पर लेप भी किया। बावन चन्दन के सेवन
महाराज को तत्काल शान्ति का अनुभव हुआ। शरीर व
क्षेप मिट गया। जादू का सा प्रभाव देख कर राजा के हर्ष व
सीमा नहीं रही।

राजा ने उसी समय प्रधान को बुलवा कर पूछा
प्रधानजी, यह अर्द्ध राजा कौन है ?

प्रधान--अन्नदाता, मैं भी उनसे परिचित नहीं हूँ।

राजा – मगर उनकी मेरे प्रति बड़ी सद्भावना और प्रीति है वह मेरी व्याधि से अत्यन्त चिन्तित हैं। देखिए, कितनी प्रभावशालिनी औषध भेजी है। लगाने के साथ ही आराम मिल रहा है। बिना प्रेम कौन किसे स्मरण करता है?

प्रधान--यथार्थ है। कोई पुराने प्रेमी प्रतीत होते हैं।

महाराज ने वणिजारे की ओर उन्मुख होकर कहा--अर्द्ध राजा को कौन-सी वस्तु अत्यन्त प्रिय है?

वणिजारा--महाराज, उन्हें घुड़सवारी का गहरा शौक है। वह प्रतिदिन नये-नये घोड़े पर सवार होकर निकलते हैं और प्रसन्नता के साथ सैर करते हैं। घोड़ा उन्हें अतिशय प्रिय है।

महाराज--ठीक है। हमारे देश में अति उत्तम घोड़े होते हैं। तुम लौटो तो एक बढ़िया घोड़ा उनके लिए ले जाना।

थोड़े दिनों बाद, जब माल बेच कर वणिजारा लौटने लगा तो कणियापुर-नरेश ने अर्द्ध राजा के लिए एक प्रेम-पत्र दिया और मणि-जटित स्वर्ण के अनेक आभूषणों से सजाकर एक उत्तम जाति का अश्व उपहार में दिया।

वणिजारा चलता-चलता वापिस कुशस्थलपुर लौटा। वह अर्द्ध राजा से मिलने के लिए व्यग्र हो रहा था। अतएव अश्व को तैयार करके वह उसी जगह आ पहुँचा, जहाँ मिलने के लिए अर्द्ध राजा ने उससे कहा था।

थोड़ी देर में अर्द्ध राजा भी अपने घोड़े को नचाता हुआ वहाँ आ पहुँचा। वह वणिजारे को देखकर रुक गया। वणिजारे ने उसे सिर झुका कर नमस्कार किया और कणिया पुर नरेश के सब समाचार सुनाए। अन्त में कहा--आपके प्रेम से प्रभावित होकर उन्होंने यह उत्तम अश्व आपको उपहार-स्वरूप भेजा है। इसे स्वीकार कीजिए।

अर्द्ध राजा ने घोड़े पर एक दृष्टि डाल कर कहा—भाई, इसकी मुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसे-ऐसे गधेड़े यहाँ बहुत हैं। फिराने वाला मैं एक हूँ। नित्य नये घोड़े लाता हूँ तो भी वर्षों में वारी आती है। मैं इसे लेकर क्या करूँगा ? हाँ, यह तो बतलाओ, अब तुम कहाँ जा रहे हो ?

वणिजारा--महाराज, मैं भृगुकच्छ जाऊँगा।

अर्द्ध राजा--ठीक है। वहाँ मेरे मामा के लड़के भाई हैं। तुम राजाजी से मिलना। यह अश्व उन्हीं को भेंट कर देना और प्रेम के साथ मेरा मुजरा अर्ज़ कर देना। लौटो तो फिर इसी जगह मिलना।

वणिजारा प्रसन्नता के साथ अर्द्ध राजा का उपहार ले जाने को तैयार था। इस बहाने राजा के साथ घनिष्ठता स्थापित करने में उसे सुभीता होती थी।

वणिजारा हर्ष के साथ घोड़े को ले गया और यथासमय भृगुकच्छ जा पहुँचा। वहाँ वह राजा से मिला। अर्द्ध राजा की प्रीति का सुन्दर शब्दों में वर्णन करके उसने अश्व भेंट

किया। उत्तम जाति के घोड़े को, बहुमूल्य आभूषणों सहित देख कर भृगुकच्छ-नरेश को असीम प्रसन्नता हुई, परन्तु उन्हें स्मरण नहीं आया कि यह अर्द्ध राजा कौन है ? तब उसने अपने सचिव को बुलाकर पूछा--यह प्रेमी अर्द्ध राजा कौन है ?

सचिव ने संकुचित होकर कहा--मैं नहीं पहचानता।

दोनों लज्जित थे।

राजा ने वणिजारे से कहा--तुम्हारा शुल्क माफ कर दिया गया है। जो माल लाये हो, सब राज्य के भण्डार में डाल दो और जो चाहे मूल्य ले लो। वापिस लौटने लगो तो मिल कर जाना।

लौटते समय जब वणिजारा राजा से मिलने गया तो राजा ने कहा--देखो, अर्द्ध राजा से हमारा मुजरा कह देना और साथ में जो उपहार भेजा जा रहा है, उसे हमारी ओर से उन्हें भेंट दे देना। खूब प्रेम प्रकट करना। उनके उपहार के लिए कृतज्ञता प्रकट करना।

राजा ने उपहार में देने के लिए एक सुन्दर गजराज तैयार करवाया था। उसकी पीठ पर जरी की झूल और सोने का हौदा था। उसमें रत्नों की घुंघरू लटक रही थीं। सजा हुआ हस्ती बड़ा ही मनोहर दिखाई देता था।

वणिजारे ने आदर के साथ गजराज को अपनी अधीनता में लिया और कुशस्थलपुर की ओर प्रस्थान किया। उसी